नथमल लूणिया द्वारा
आदर्श प्रेस (केसरगञ्ज डाकखाने के पास) अजमेर में छपी
सञ्चालक—जीतमल लूणिया

प्राक्कथन

"जैनँ जयतु शासनम्"

भगवान् महावीर का शासन जयवन्त वर्तो, विजयशाली हो ऐसी भावना प्रत्येक जैन में होती है—होनी चाहिये । तीर्थंकरों के युग में उनके शासन के साधु-श्रावक में कितनी प्रेम वृत्ति, कितनी धर्म भावना, कैसा पापभिरुत्व, आत्मवेषक वृत्ति और कैसा शासन प्रेम था ! इसकी सबूत जिनागम और पूर्वाचार्यों के ग्रन्थादि पढ़ने से स्पष्ट होता है ।

एक ही समय में पार्श्व प्रभु के शासनवर्ती मुनि और महावीर प्रभु के शासनवर्ती मुनि थे; किन्तु परस्पर की विनीतता, सत्यान्वेषक दृष्टि और निरहंत्व जानकर हमें बड़ा आल्हाद होता है (देखिये उत्तराध्यन सूत्र अध्य० २३)

उन्हीं पार्श्व प्रभु, महावीर प्रभु एवं अन्य तीर्थंकरों के समय में नाना क्रियाकांड में रक्त परिव्राजक, सन्यासी, त्रिदंडी, तापस आदि भी थे; किन्तु जिनेश्वर के सच्चे साधु श्रावकों की उनपर कैसी माध्यस्थ दृष्टि, अनुकम्पा बुद्धि और आत्म धर्म के सन्मुख प्राणीमात्र को लेजाने की कैसी परोपकार वृत्ति थी ! (देखिये भगवतीजी के कयी शतक व उद्देश्य उनके वर्णन से भरे हैं:)

आज एक प्रभु महावीर के शासन में उन्हीं के तत्त्वज्ञान और फिलोसॉफी को मानने वाले जैन श्वेताम्बर, दिगम्बर, स्थानक वासी, तेरह पन्थी आदि फिर्कों में और उसके भी अनेक प्रभेदों में बटे हुए हैं। उन सब जैनों के तीर्थंकर (इष्ट देव), नवकार मन्त्र (इष्ट जाप्य) और तत्वज्ञान में कोई फर्क नहीं है। बिल्कुल एक वाच्यता होते हुए भी क्रिया कांडों की, परम्परा की विभिन्न मान्यताओं को प्रधानता देकर परस्पर में लड़ रहे हैं। पत्तों के लिये हम मूलों को छेद रहे हैं।

दिगम्बर भाई कहें कि, श्वेतम्बरों के महावीर ने मांस खाया और श्वेताम्बर कहें कि, दिगम्बरों ने स्त्री-शूद्रों के अधिकार छीन लिये, ब्राह्मणत्व को अपनाया इत्यादि से महावीर को कलंकित किया। इस प्रकार पारस्परिक विसंवाद से अजैनों को हँसने का, आपके इष्टदेव महावीर प्रभु को और जैन आगम ग्रंथों (तत्व-ज्ञान) को कलंक देने का मौका मिलता है। अपने आपको विद्वान् मानने वाले, शासन के हितैषी कहलाने वाले, शास्त्र के मर्मज्ञ मानने वाले आप स्वयं ही उन प्रतिस्पर्धि के कुल्हाड़े के हाथे हो जाते हैं।

क्या श्वेतम्बरों का महावीर और दिगम्बरों का महावीर भिन्न है ? कर्मफिलॉसोफी और तत्वज्ञान में फर्क है ? कभी नहीं। अधिक से अधिक इतना कह सकते हो कि, हम एक ही पिता के पृथक् २ पुत्र हैं। उन्हीं वीर परमात्मा के निर्दिष्ट मोक्षमार्ग को पहुँचने के भिन्न २ मार्ग मात्र हमारे पूर्वज आचार्यों (जो कि, छद्मस्थ ही थे, भले ही हमसे कुछ अधिक बुद्धिमान होंगे)

ने बताये हैं। अतः क्रियाकांड की प्रथा कुछ भले ही भिन्न है; किन्तु ध्येय एक ही है।

श्वेताम्बर दिगम्बरों पर या दिगम्बर श्वेताम्बरों पर कलंक देते हैं, वे दोनों प्रभु महावीर के शासन पर ही कुठाराघात करते हैं। स्याद्वाद न्यायको समझने वाले विविध नयवादों से भी समन्वय कर सकता है, तो किंचित् स्थूल भेद वाले श्वेताम्बर दिगम्बर मान्यता का समन्वय तो अति सुलभ है ही।

जब कि, दिगम्बर भाइयों ने श्वेताम्बर आगमों पर आक्षेप करके महावीर ने मांसाहार किया है ऐसा भगवती सूत्र के 'रेवती दान' के अधिकार में सिद्ध करके श्वेताम्बर आगमों को तुच्छ समझाने की चेष्टा की है तो उन भाइयों को सत्य समझाने के लिये, उनकी दयनीय दशा को सुधार लेने की अनुकम्पा वृत्ति से जैन-धर्म दिवाकर पं० रत्न शतावधानीजी रत्नचन्द्रजी महाराज ने 'रेवती दान' के विषय में आगमोद्धार समिति के विद्वान् मुनि सदस्यों को उपस्थिति में जयपुर विराजते समय यह निबन्ध लिख कर दिगम्बर भाइयों का भ्रमनिवारण किया है।

मुनि श्री ने वैद्यक के प्राचीन ग्रन्थों (वैद्यक शब्द सिन्धु, वनौषधि दर्पण, कैयदेव निघण्टु, शालिग्राम निघण्टु आदि) से, वैयाकरणीय ग्रन्थों (कारिकावली, सुश्रुत संहिता आदि) से शब्द कोष ग्रन्थों (शब्दार्थ चिन्तामणि आदि) से, काव्यग्रन्थों (वाग्भट आदि) से; ऐसे २ प्राचीन एवं विश्वस्त ग्रन्थों से इस समालोचना में यह सिद्ध किया है कि, जिन शब्दों (मार्जार, कुक्कुट, कपोत आदि) को एकार्थ वाची (पशु, पक्षी) समझ कर आपत्ति की जाती है, वे शब्द वनस्पति के नाम वाची भी है।

एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। सभी फिर्के के जैन भगवान् की वाणी को अनेकार्थ युक्त तो मानते ही हैं। फिर इन्हीं शब्दों को एकार्थी मान लेना भगवान् की वाणी का अपमान करना, या अपनी तुच्छता बताना या अपनी हठवादी बुद्धि का प्रदर्शन नहीं है ?

अधिक तो क्या कहूं ! एक सीधी-सादी बात है कि, याज्ञिकादि अनेक प्रकार की हिंसा को रोक कर अहिंसा का झण्डा ऊठाने वाले, पकाये हुए मांस में भी समुर्च्छिम जीवों की उत्पत्ति मनाने वाले, पृथ्वी-पाणी-वनस्पति जैसी जीवनावश्यक वस्तुओं के सचित भक्षण में हिंसा बताने वाले, अप्रतिघाती आयुष्य वाली देह धारण करने वाले प्रभु महावीर पशु-पक्षी का मांस का भक्षण कर ही कैसे सके ? जैन धर्म का नाम श्रवण करने वाले को विधर्मी भी इसे मंजूर नहीं कर सकता। तो बड़े आश्चर्य और खेद की बात है कि, इन्हीं महावीर के पुत्र दिगम्बर जैन भाइयों को यह कैसे सूझी ?

ऐसा भी मान लिया जाय कि, दिगम्बर भाइयों को श्वेताम्बर सूत्रों पर आक्षेप करना था, तो भी क्या आज तक किसी श्वेताम्बरीय साधु या श्रावक की हिंसा की ओर प्रवृत्ति देखी ? यदि श्वेताम्बरी लोग उक्त शब्दों का पशु-पक्षी अर्थ करते तो वे अवश्य मांसाहारी हुए होते परन्तु ऐसा आज तक देखने में नहीं आया है।

मुझे सम्पूर्ण विश्वास है कि, दिगम्बर भाई इस रेवती दान समालोचना को पढ़कर अपने मन्तव्य को सुधार लेंगे और श्वेताम्बरीय जैन भाई भी रेवती दान के शब्दों का परमार्थ

समझ कर भ्रम में पड़े हुए भाइयों का भ्रमनिवारण करेंगे। सुज्ञेषु किं बहुना ?

ब्यावर (राजपूताना)
महावीर जयन्ति वी. सं. २४६१
वि. सं. १९९२ चैत्र शुक्ला १३

जिन शासन का तुच्छ सेवक
धीरजलाल के० तुरखिया
ऑ. अधिष्ठाता, जैन गुरुकुल ब्यावर

नोट:—रेवती-दान का स्पष्टीकरण खास कर उन दिगम्बर पंडितों के लिये लिखा गया है, जो कि, श्वेताम्बर आगमों के मनमाने असंबद्ध शब्दार्थ करते हैं। इन पण्डितों को विद्वता एवं युक्ति प्रमाण सहित उनकी प्रिय भाषा संस्कृत में ही पं० मुनि श्री रत्नचन्द्रजी महाराज ने यह पद्य गद्यात्मक निबन्ध लिखा था, जिसका लाभ आम जनता को भी मिले यह आवश्यक समझ करके एक दिगम्बर न्यायवादी पंडितजी ने ही इसका अनुवाद कर देने की कृपा की है, अतः उनको धन्यवाद दिया जाता है।

दो शब्द

महानुभावो,

'श्वेताम्बर मत समीक्षा' पुस्तक तथा जैन मित्र आदि पत्रों में रेवती का भगवान को दिया आहार अभक्ष था तथा और भी कई आरोप विश्व वन्द्य वीर भगवान पर पढ़कर रोमांच कांपने लगे।

आक्षेपों को निर्मूल सिद्ध करने के लिए परम पूज्य, प्रातः स्मरणीय शतावधानीजी पंडित मुनि श्री रत्नचन्दजी स्वामी ने 'रेवती दान समालोचना' शीर्षक लेख लिखा, जो जैन प्रकाश के उत्थान (महावीरांक) में प्रकाशित हो चुका है। किन्तु लेख संस्कृत भाषा में होने के कारण आम जनता को लाभ कम दे सका। अतः सर्व साधारण के हितार्थ यह लेख हिन्दी भाषानुवाद सहित प्रकाशित किया गया है।

लेख में स्वामीजी महाराज ने सप्रमाण, आगम, तर्क व शब्द शास्त्रानुसार विपक्षी समाज का भ्रम निवारण व समाज पर आरोपित कलङ्कों को निर्मूल सिद्ध कर दिया है और यह भली भाँति उल्लेखित है कि रेवती का दिया हुआ आहार कैसा था?

आगम व शब्द शास्त्रानुसार यह स्वयं सिद्ध है कि कपोत कुक्कुट, मार्जार आदि शब्द केवल पशु द्योतक ही नहीं, किन्तु बनस्पति द्योतक भी हैं।

जो महानुभाव हमारे आगम, साम्प्रदायिक कट्टरतावश, केवल खंडनात्मक दृष्टि से ही देखते हैं, वे सूत्रों के वास्तविक भाव ही न समझ सके तो भला रहस्य की खोज तो दूर रही। इसी कारण पंडित अजितप्रसादजी शास्त्री ने अपनी कीर्ति व ख्याती की धुन में रेवती के लिए मांसाहारिणी आदि शब्द लिखने का दुस्साहस किया है जो श्री श्वेताम्बर आगमों की अनभिज्ञता का स्पष्ट परिचय है।

पाठक, इस पुस्तक को जिज्ञासा भाव व तत्व निर्णय की दृष्टि से पढ़ें और वास्तविक रहस्य का निर्णय करें।

नम्र निवेदक

धनराज जैन

मंत्री

श्री श्वेताम्बर स्थानक वासी, जैन वीर मंडल केकड़ी (अजमेर)

श्री श्वे. स्था. जैन वीरमण्डल, केकड़ी का

संक्षिप्त परिचय

केकड़ी (जि० अजमेर) में पहिले कोई स्था० जैन संस्था नहीं थी । न कोई विद्वान् मुनि महात्मा का पधारना होता था । सद् भाग्य से सं० १९८७ फाल्गुन कृष्ण २ को महावैरागी, एकान्त मौन योगी प्रेमी, आदर्श बा० ब्र० आत्मार्थ मुनि श्री मोहनऋषिजी महाराज श्री का पदार्पण हुआ । मुनि श्री के उपदेशामृतसे स्था० जैन श्री संघ में नूतन जागृति हुई और चैत्र शुक्ला १ सं० १९८८ को उक्त मंडल की स्थापना हुई ।

मंडल के धर्म प्रेमी उत्साही मंत्री धनराजजी जैन और सभासदों ने श्री संघ की सेवा करना प्रारम्भ किया, जव से प्रति वर्ष चातुर्मास (मुनिवर या महासतीजी के) होने लगे । धर्मस्थानक वन गया और सूत्र वत्तीसी, टीकाएँ, तथा सामाजिक, धार्मिक, राष्ट्रीय आदि १५०० पुस्तकों का संग्रह हो गया ।

इस प्रकार पुस्तकालय और वांचनालय चल रहा है । मंडल के आय व्यय और कार्य की रिपोर्ट यथा समय प्रकट होती रहती है । उक्त मंडल की तर्फ से ही इस समालोचना की ५०० प्रति छपायी गयी है ।

स्थान २ पर ऐसी सुसंगठित संस्थाएँ खोलकर शासन सेवा का सुयोग प्राप्त करना जैन भाइयों का पवित्र कर्तव्य है ।

आधार भूत ग्रन्थों की सूची

१. वनौषधि दर्पण—सं० कविराज विरजचरण गुप्त काव्य-भूषण, राजवैद्य, कूच (विहार) सं० १९०९.

२. सुश्रुत संहिता—हिन्दी भाषानुवाद युक्त, प्रकाशक—श्यामलाल, श्रीकृष्णलाल, सन् १८९६.

३. वैद्यक शब्द सिन्धु—प्र० कविराज श्री उमेशचन्द्र गुप्त सन् १८९४.

४. कारिकावली—सिद्धान्त मुक्तावली सहिता श्री विश्वनाथ पंचानन भट्टाचार्य विरचिता सन् १९१२ प्र. गु. प्रिं. प्रेस

५. कैयदेव निघण्टु—कर्त्ता-आयुर्वेदाचार्य पं. सुरेन्द्र मोहन B. A. वैद्य कलानिधि (कलकत्ता), आचार्य-दयानंदा। युर्वेदिक कॉलेज लाहौर ता. २०-३-१९२८.
प्र. मेहरचंद लक्ष्मणदास, सैदमिट्ठा बाजार, लाहौर.

६. शब्दार्थ चिन्तामणि—प्रका. मेदपाटेश्वर महाराणा सा. श्री. सज्जनसिंहजी (उदयपुर). स. १९४० में उदय सज्जन यंत्रालय से प्रकाशित.

७. शालिग्राम निघण्टु—सं. शालिग्राम वैश्यः (मुरादाबाद) प्र. खेमराजः श्रीकृष्णदासः (बम्बई) सं. १९६९:

८. वाग्भट्ट—अरुणदत्त प्रणील व्याख्या सहित प्र. पाण्डुरंग जावजी (निर्णयसागर मुद्रणालय) बम्बई. शकाब्द १८४६ सन् १९२५.

रेवतीदान समालोचना के सम्पादन में उपरोक्त ग्रन्थों का आधार लिया है। अतः उक्त ग्रन्थों के सम्पादक एवं प्रकाशकों का आभार प्रकट किया जाता है।

लेखक—

संकेत सूची

हे. च.	हेमचन्द्राचार्य
रा. नि.	राजनिघण्टु
व.	वर्गः
त्रि. का.	त्रिकाण्डशेषः
भा. पू	भावप्रकाश पूर्व भाग
सु	सुश्रुत
सु.	सूत्रस्थान
अ.	अध्याय
मे.	मेदिनी
वा.	वाग्भट
उ.	उत्तरखण्ड, उत्तर तंत्रम्
रत्ना.	रत्नावली
राज.	राजःवल्लभः
प.	परिच्छेदः

रेवतीदान समालोचना हिन्दी भाषानुवाद की प्रति १००० निम्न सज्जनों ने अपने खर्च से छपायी हैं। वे धन्यवाद के पात्र हैं।

श्री श्वे. स्था. जैन वीर मण्डल, केकड़ी	प्रति ५००
श्री. कुशालचन्दजी अभयकुमारजी, अल्वर	प्रति १००
श्री. विरजलालजी रामवक्सजी जैन ,,	,, १००
श्री. छोटेलालजी पालावत जैन ,,	,, १००
श्री. कांधला के सुज्ञ श्रावक भाई ,,	,, २००

रेवती-दान-समालोचना

श्रीमान् मित्रसेन पल्टूमल जैन कांधला की तरफ से २०० प्रतियाँ भेंट

॥ ॐ अर्हं ॥

रेवती-दान-समालोचना

लेखक :—

शतावधानी पंडित महाराज श्री रत्नचंद्रजी स्वामी

मंगलाचरणम् ।

प्रारीप्सितनिबन्धपरिसमाप्त्यर्थमिष्टदेवतानमस्कारात्मकमङ्गलमातनोति—

नमस्कृत्य महावीरं, भवपाथोधिपारगम् ।
रेवतीदत्तदानार्थे, याथातथ्यं विचिन्त्यते ॥ १ ॥

नमस्कृत्येति—उपपदविभक्तेः कारकविभक्तेर्बलीयस्त्वान्महावीरमिती कारकविभक्तिर्द्वितीया। अन्येष्वपीष्टदेवेषु सत्सु विशेषतया महावीरस्योपादानं वर्तमानशासनपतित्वात्प्रकृतनिबन्धेन तस्य सम्बन्धाच्च। युद्धविजेता वीरः, कर्मयुद्धविजेता तु महावीरः, वीरेष्वपि महान् वीरः, अतुलपराक्रमदर्शको वर्धमानस्वामीत्यर्थः। क पराक्रमो दर्शित इत्यत आह-भवेति, भवः संसारः स एवागाधत्वात्पाथोधिः समुद्रस्तस्य पारमन्तं गच्छतीति भवपाथोधिपारगस्तम्। रेवतीति, रेवताख्या मेण्ढिकग्रामनिवासिनी काचिद् गृहिणी, यया

॥ ॐ अर्हं ॥

रेवती-दान-समालोचना

(हिन्दी भाषान्तर)

मंगलाचरण

जिस निबंध को प्रारंभ करने की इच्छा की है उसकी समाप्ति के लिए इष्ट देव को नमस्कार रूप मंगलाचरण करते हैं—

संसार-समुद्र के पार पहुँचे हुए महावीर को नमस्कार करके रेवती द्वारा दिए हुए दान के विषय में वास्तविकता का विचार किया जाता है ॥१॥

उप पद विभक्ति से कारक विभक्ति अधिक बलवती होती है, अतः यहाँ 'महावीरम्' पद में द्वितीया कारक विभक्ति का प्रयोग किया गया है।

इष्ट देव तो महावीर के अतिरिक्त और भी हैं किन्तु महावीर ही वर्तमान शासन के स्वामी हैं और प्रकृत निबंध का संबंध उन्हीं से है, इसलिए मंगलाचरण में उन्हीं का ग्रहण किया गया है।

युद्ध के विजेता को वीर कहते हैं किन्तु कर्म-युद्ध में विजय पाने वाले को महावीर कहते हैं। अर्थात् वीरों में भी जो महान् वीर हो सो महावीर। महावीर पद से यहाँ अतुल पराक्रम दिखलाने वाले वर्धमान स्वामी का अर्थ लिया गया है।

वर्धमान ने कहाँ अतुल पराक्रम दिखलाया है? इसका समाधान करने के लिए कहते हैं—भव अर्थात् संसार, यही संसार अगाध होने के कारण मानों समुद्र है; उसके पार अर्थात् अन्त तक जो जा पहुँचे वह 'भवपाथोदधिपारग' कहलाता है। मतलब यह है कि वर्धमान स्वामी ने मोक्ष प्राप्त करने में अतुल पराक्रम दिखलाया है।

महावीरस्वाम्यर्थं सिंहानगाराय भैषज्यं प्रतिलाभितम्। तया दत्तं यद्दानं तस्यार्थः पदार्थस्तद्विषये केषांचिच्छङ्का विद्यते, यत्तद्दानवस्तु मांसमासीदन्ये वदन्ति तद्वस्तु वनस्पतिफलादिजन्यमौषधमासीदत्र पक्षद्वये किं यथातथमिति विशेषेण पर्यालोचनपूर्वकं प्रमाणपुरस्सरं चिन्त्यते विचार्यत इत्यर्थः ॥ १ ॥

वीरस्य रोगोत्पत्तिः ।

रेवतीदानस्य प्रयोजनं महावीरस्वामिनः शरीरे रोगोत्पत्तिः। तस्याश्च निमित्तं वर्धमानस्वामिनं प्रति गोशालकेन प्रक्षिप्ता तेजोलेश्या तद्दर्शनायाह—

गोशालकेन विक्षिप्ता, तेजोलेश्या जिनं प्रति ।
यद्यपि नास्पर्शद्वीरं, तथाप्यभूद्व्यथाकरी ॥ २ ॥

गोशालकेनेति—अस्य विस्तृतार्थस्तु भगवतीसूत्रे पञ्चदश-शतके। अत्र तु सम्बन्धमात्रदर्शकः संक्षिप्तार्थः। गोशालक-प्रक्षिप्ततेजोलेश्याया महावीरस्वामिशरीरेण सह संपर्को नाभूत, शरीरसमीपप्रदेशादेव तस्याः परावृत्तत्वात्। तथापि सामीप्येना-घातजनकत्वात्सा तेजोलेश्या रोगोत्पत्तिजनकाऽभवदित्यर्थः ॥ २ ॥

रोगस्वरूपम् ।

महावीरस्वामिनः कीदृशो रोगोऽजनीत्याह—

पित्तज्वरस्ततो जातस्तथा वर्चसि लोहितम् ।
असह्यो विपुलो दाहो, देहे वीरस्य चाभवत् ॥ ३ ॥

रेवती, मेंढिक ग्राम में रहने वाली एक गृहिणी (गृहस्थ स्त्री) थी जिसने महावीर स्वामी के लिए, सिंह अनगार को औषध दान दिया था। रेवती द्वारा दिये हुए दान के विषय में किन्हीं-किन्हीं को आशंका है। किसी का कहना है कि उसने 'मांस' दिया था और कोई-कोई कहते हैं कि मांस नहीं बल्कि वनस्पति के फल वगैरह से बनी हुई दवा दी थी। इन दोनों पक्षों में से कौन सा पक्ष सत्य और कौन सा असत्य है? इसका विशेष रूप से आलोचन और प्रमाण पूर्वक विचार किया जाता है ॥ १ ॥

वीर को रोगोत्पत्ति

महावीर स्वामी के शरीर में रोग की उत्पत्ति होना रेवती के दान का निमित्त था और रोग का कारण था—गोशालक के द्वारा महावीर स्वामी पर फेंकी हुई तेजो लेश्या। इसी बात को बतलाते हैं—

गोशालक के द्वारा भगवान् की ओर फैंकी हुई तेजो लेश्या ने यद्यपि वीर भगवान् को स्पर्श नहीं किया, तो भी उससे उन्हें व्यथा (रोग जन्य पीड़ा) हो गई ॥ २ ॥

इसका विस्तृत विवरण भगवती सूत्र के पन्द्रहवें शतक में है। यहाँ सिर्फ प्रकरण बताने के लिए संक्षेप में कह दिया है। गोशालक के द्वारा फेंकी हुई तेजो लेश्या का महावीर स्वामी के शरीर के साथ स्पर्श नहीं हुआ था—शरीर के पास से ही वह लौट गई थी। फिर भी समीप तक आने के कारण उसने आघात उत्पन्न कर दिया और इसी कारण उसे रोग की उत्पत्ति का कारण कहा गया है ॥ २ ॥

रोग का स्वरूप

महावीर स्वामी को कैसा रोग हुआ था, यह बताते हैं—

तेजो लेश्या समीप आने से भगवान् वीर के शरीर में पित्त

पित्तेति—ततस्तेजोलेश्यासामीप्यात्पित्तज्वरो, वर्चसि लोहितं, विपुलो दाहश्चेत्येतत्त्रिविधरोगोद्भवः श्रीवीरस्य देहेऽजायत । त्रिविधोऽपि दुस्सह इति तदुक्तं भगवत्याम्—"तए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स सरीरगंसि विपुले रोगायंके पाउब्भूए उज्जले जाव दुरहियासे पित्तज्जरपरिगयसरीरे दाहवक्कंतीए यावि विहरइ अवियाइं लोहियवच्चाइंपि पकरेइ"—(भग० १५;१ पृ० ६८५) ॥३॥

जनताप्रवादः ।

अनेन जनसमुदाये यः प्रवादोऽभूत्तमाह—

गोशालेन पराभूतो, वीरः पित्तज्वरार्दितः ।
मृत्युमाप्स्यति षण्मास्यां, छद्मस्थः प्रसृता कथा ॥ ४ ॥

गोशालेनेति—लोके ईदृशी वार्ता प्रसृता यन्महावीरस्वामि-गोशालकयोर्विवादे गोशालको विजेता महावीरस्वामी च पराजितः । गोशालकस्य तपस्तेजसा परिभूयमानः श्रीवीरः पित्तज्वरव्याप्तशरीरो दाहापक्रान्त्या छद्मस्थः सन् मासषट्कान्ते कालधर्मं प्राप्स्यति । मन्यते गोशालोक्तिः सत्या भविष्यतीति प्रवादो लोकापवादरूपो जातः । तदुक्तम्—"एवं खलु समणे भगवं महावीरे गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स तवेणं तेएणं अन्नाइट्ठे समाणे अंतो छण्हं मासाणं पित्तज्जरपरिगयसरीरे दाहवक्कंतीए छउमत्थे चेव कालं करेस्सति" (भग० १५;१, पृ० ६८५) ॥ ४ ॥

ज्वर हो गया, दस्त में रक्त गिरने लगा तथा अत्यन्त असह्य जलन होने लगी ॥ ३ ॥

तेजो लेश्या पास तक आई इस कारण महावीर के शरीर में पित्त ज्वर हुआ, मल में रक्त आने लगा और तेज़ जलन होने लगी। इस प्रकार तीन प्रकार का रोग उन्हें हो गया। यह तीनों ही प्रकार का रोग असह्य था। भगवती सूत्र में कहा है—तब श्रमण भगवान् महावीर के शरीर में बहुत से रोग और आतंक प्रगट हो गए। ये तीव्र और असह्य थे। उनका शरीर पित्त ज्वर से व्याप्त हो गया, जलन होने लगी और खूनी दस्त लगने लगे ॥ ३ ॥

जनता-प्रवाद—अफ़वाह

इस बीमारी के कारण लोगों में जो अफ़वाह उड़ी, उसे बताते हैं—

गोशाला के द्वारा महावीर परास्त कर दिये गये हैं। पित्त ज्वर आदि के कारण छद्मस्थ महावीर छह महीने के भीतर ही भीतर मृत्यु को प्राप्त हो जाएँगे। इस प्रकार की अफवाह लोगों में उड़ने लगी ॥ ४ ॥

लोक में ऐसी बात फैल गई कि गोशाला और महावीर स्वामी के विवाद में गोशाला विजयी हुआ और महावीर हार गए हैं। गोशाला के तप के प्रभाव से पराभव पाने वाले श्रीमहावीर स्वामी का शरीर पित्त ज्वर से आक्रान्त हो गया है और दाह होने से वे छद्मस्थ ही रह कर छह माह में काल-धर्म-मृत्यु—को प्राप्त होंगे। मालूम होता है, गोशाला का कथन-पक्ष सच्चा होगा। इस प्रकार की बातें लोक में फैलने लगीं कहा भी है—

चारों वर्ण कहते हैं कि मंखलिपुत्र गोशालक के तपस्तेज से पराभव पाये हुवे श्रमण भगवंत महावीर छः महीने के अंदर पित्त ज्वरादि रोग से छद्मस्थ अवस्था में ही काल धर्म पावेंगे ॥ ४ ॥

लोकापवादजन्यं मुनेर्दुःखम् ।

अस्य प्रवादस्य मुनिजनेष्वपि कीदृशी परिणतिर्जातेति दर्शयति—

स्मृतेरस्य प्रवादस्य, चित्ते चिन्ताऽन्यथाऽभवत् ।
सिंहाभिधानगारस्य, ध्यानस्थस्य वनान्तिके ॥ ५ ॥

स्मृतेरिति—मेण्ढिकग्रामस्येशानकोणे विद्यमानस्य शाल-कोष्ठकाख्योद्यानस्य समीपे मालुकाकच्छकनाम वनमासीत् । तत्र श्रीवीरप्रभुः सपरिवारः समवसृतः । सिंहाभिधानस्तच्छिष्यो मुनिगणान्वितो वनस्यैकान्तप्रदेशे ध्यानमग्नोऽभवत्तदानीं पूर्वं श्रुतस्य लोकप्रवादस्य स्मृतिर्जाता, तथा च मनसि महद्दुःखं समजनि । व्यवहार इव धर्मेऽपि लोकापवादो धर्मिजनहृदयं परितापयत्येव । अत एवोक्तं—"यदपि शुद्धं लोकविरुद्धं, नाकरणीयं नाचरणीयम् ।" तदुक्तम्—"तेणं कालेणं २ समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी सीहे नामं अणगारे पगइभद्दए जाव विणीए मालुयाकच्छगस्स अदूरसामंते छट्ठंछट्ठेणं अनिक्खित्तेणं २ तवोकम्मेणं उड्ढं बाहा जाव विहरति, तए णं तस्स सीहस्स अणगारस्स झाणंतरियाए वट्टमाणस्स अयमेयारूवे जाव समुप्पज्जित्था—एवं खलु ममं धम्मायरियस्स धम्मोवदेसगस्स समणस्स भगवओ महावीरस्स सरीरगंसि विउले रोगायंके पाउब्भूए उज्जले जाव छउमत्थे चेव कालं करिस्सति, वदिस्संति य णं अन्नतित्थिया छउमत्थे चेव कालगए, इमेणं, एयारूवेणं महया मणोमाणसिएणं दुक्खेणं अभिभूए समाणे आयावणभूमिओ पच्चोरुहइ"—(भग० १५;१, पृ० ६८६) ॥ ५ ॥

लोकापवाद से मुनियों को शोक—

इस अफवाह से मुनिजनों की भी चित्तवृत्ति कैसी हुई, सो कहते हैं—

इस अपवाद के स्मरण से, वन में ध्यान करने वाले सिंह नामक अनगार के मन में चिन्ता जन्य पीड़ा हुई ॥ ५ ॥

मेंढिक ग्राम से ईशान कोण में विद्यमान शालकोष्ठ उद्यान के पास मालुय कच्छ नामक एक वन था। वहाँ भगवान् महावीर अपने शिष्यों के साथ पधारे। भगवान् के शिष्य मुनि-गुण से युक्त सिंह अनगार वन के एक एकान्त प्रदेश में ध्यान में लीन हुए। उस समय पहले सुने हुए उस लोक-प्रवाद का उन्हें स्मरण हो आया। उनके मन में अत्यधिक दुःख हुआ। जैसे व्यवहार में लोकापवाद असह्य होता है वैसे ही धर्मात्मा पुरुषों को धर्म विषयक अपवाद भी असह्य होता है। इसीलिए कहा है कि "शुद्ध कार्य भी यदि लोक विरुद्ध हो तो नहीं करना चाहिए।"

कहा भी है—उस काल में, उस समय श्रमण भगवान् महावीर के शिष्य, भद्र स्वभाव वाले, विनयी सिंह अनगार मालुयाकच्छ के निकट मौजूद, षष्ठभक्त करते हुए, बाहें ऊपर को फैलाकर तपस्या करते हुए विचरते थे। ध्यान-मग्न सिंह अनगार को ऐसा विचार आया कि मेरे धर्माचार्य, धर्मोपदेशक, श्रमण भगवान् महावीर के शरीर में विपुल रोग-आतंक प्रकट हुआ है। (यावत्) छद्मस्थावस्था में शरीर त्याग करेंगे, ऐसा अन्य तैर्थिक कहेंगे। सिंह अनगार इस महान् मानसिक दुःख से बड़े दुःखी हुए और आतापन-भूमि से पीछे लौटे ॥ ५ ॥

दुःखातिरेके किं जातम्?

मानसिकं दुःखमाश्वासकामभवे प्रतिक्षणं वर्द्धमानं सदश्रुरूपेण हृदयाद्-बहिर्निःसरति तदेवाह—

मालुयाकच्छकं गत्वा, रुरोदार्त्तस्वरेण सः।
मृते नाथेऽपवादेन, हा! हा!! धर्मस्य हीनता ॥ ६ ॥

रुरोदेति—यद्यपि महता महता शब्देनार्त्तस्वरेण रोदन-मार्त्तध्यानेऽन्तर्भवेत्तथाप्यत्र तस्य धर्मप्रशस्तरागजन्यत्वाद् गुरुभक्ति-परिणामपरिणतत्वान्नार्त्तध्यानत्वं। तस्य तु केवलमियमेव चिन्ता यन्महावीरस्वामिनः षण्मासीमध्ये यद्यवसानं भवेत्तर्हि परतैर्थिकाः किं कथयिष्यन्ति। तेऽवश्यं शासनमालिन्यं करिष्यन्ति वदि-ष्यन्ति च यन्महावीरश्छद्मस्थ एव मृत इत्येतद्भविष्यद्धर्महीनता-जन्यमेव तद्रोदनमिति। तदुक्तम्—"जेणेव मालुयाकच्छए तेणेव उवा० २ मालुयाकच्छं अंतो अणुपविस्सइ २ मालुया० २ महया महया सद्देणं कुहुकुहुस्स परुन्ने"—(भग० १५; १, पृ० ६८६) ॥ ६ ॥

शिष्यसमाश्वसनम्।

वीरेण प्रेषितास्सन्तः, सिंहमाह्वयितुं द्रुतम्।
आगतं काननादेनं, वीर इत्थं समाश्वसत् ॥ ७ ॥

वीरेणेति—मणिरत्नमालायां "शिष्यस्तु को यो गुरुभक्त एव, गुरुस्तु को यश्च हितोपदेष्टा" इति शिष्यगुरुलक्षणमुक्तं तत्सत्य-मेव। शिष्यरोदनं महावीरेण ज्ञातम्। झटित्येव श्रमणान् संबोध्या-

इस तीव्र दुःख के बाद क्या हुआ ?

आश्वासन देने वाला वहाँ कोई नहीं था। अतएव उनका दुःख प्रतिक्षण बढ़ता-बढ़ता अन्त में आँसुओं के रूप में बाहर निकलने लगा; यही बताते हैं—

वह अनगार मालुयाकच्छ वन में जाकर आर्त्तस्वर से रोने लगे कि हाय ! हाय !! स्वामी (महावीर) की मृत्यु होने पर धर्म की हीनता होगी ॥ ६ ॥

यद्यपि जोर-जोर से चिल्लाकर आर्त्त स्वर से रोना आर्त्तध्यान के अन्तर्गत है तथापि सिंह अनगार का यह रोना आर्त्तध्यान नहीं है क्योंकि एक तो वह धर्म सम्बन्धी शुभ राग से उत्पन्न हुआ, और दूसरे उसमे गुरुभक्ति की भावना थी। उन्हें तो केवल यही चिन्ता थी कि यदि छह मास के भीतर महावीर स्वामी का अवसान हो गया तो अन्य मतावलम्बी क्या कहेंगे ! निस्सन्देह वे वीर-शासन को मलिन करेंगे और कहेंगे कि देखो महावीर तो छद्मस्थ अवस्था में ही मर गए। इस प्रकार भविष्य कालीन धर्म की हानि के विचार से ही वे रोये थे। कहा भी है—जिस ओर मालुयाकच्छ था, उसी ओर वे आये और मालुयाकच्छ में प्रविष्ट हुए। उसमें प्रविष्ट होकर चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगे ॥ ६ ॥

शिष्य को आश्वासन

भगवान् वीर ने सिंह अनगार को शीघ्र बुलाने के लिए मुनियों को भेजा। उद्यान से आये हुए सिंह अनगार को वीर ने इस प्रकार आश्वासन दिया ॥ ७ ॥

"कौन शिष्य ? गुरुभक्त होय जो, कौन गुरु ? हितदेशक हो।" यह मणिरत्नमाला में लिखा हुआ गुरु शिष्य का स्वरूप सत्य ही है। अस्तु। शिष्य का रोदन भगवान् महावीर ने जाना। उन्होंने तत्काल श्रमणों को बुलाकर कहा—"कोमल स्वभाव वाला मेरा शिष्य सिंह अनगार

वदद्वीरः—मम शिष्यः सिंहमुनिः प्रकृतिभद्रको मालुयाकच्छके वने रोदिति, तमाह्वयत। श्रुत्वैतच्छीघ्रमेव तद्वनं गताः श्रमणाः सिंहानगारं सावधानं कृत्वा कथयन्ति तं वीरसन्देशम्। सोऽपि द्रुतमेव गुर्वाज्ञां शिरसि कृत्वा तैः सह मालुकाकच्छवनाच्छालकोष्ठकवनमागत्य गुरुं नत्वा समीपे स्थितवान्। समुपस्थितं तं वीर इत्थं वक्ष्यमाणप्रकारेण समाश्वसत् अन्तर्भावितण्यर्थतया सान्त्वयामास इत्यर्थः ॥ ७ ॥

समुपस्थितं तं गुरुराश्वासनपूर्वकमित्थमाह—

रोदिसि त्वं कथं भद्र! षण्मास्या नास्ति मे मृतिः।
अर्द्धषोडशवर्षान्तं, स्थास्यामि क्षितिमण्डले ॥ ८ ॥

रोदिसीति—श्रीमहावीरः सिंहं वक्ति—तव रोदनं मुधैव, नास्ति रोदनकारणम्। अज्ञा लोका न जानन्ति सत्यम्। मिथ्यैव लोकप्रवादः। एतत्प्रवादप्रयोजकं गोशालकवाक्यमस्ति तदप्यसत्यमेव। कारणेऽसत्ये कार्यमप्यसत्यम्। न षण्मास्यैव, मम मृत्युर्भविष्यति। अहं त्वस्मिन् भूतले सार्द्धपञ्चदशवर्षपर्यन्तं विचरिष्यामि अतो विषादं मा कुरु। तदुक्तं—"तं नो खलु अहं सीहा! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स तवेणं तेएणं अन्नाइट्ठे समाणे अंतो छण्हं मासाणं जाव कालं करेस्सं, अहन्नं अन्नाइं अद्धसोलसवासाइं जिणे सुहत्थी विहरिस्सामि"—(भग० १५;१, पृ० ६८६) ॥८॥

जीवनसद्भावेऽपि रोगो विद्यते तस्य किमिति शङ्कानिवर्त्तनायाह—

निवर्त्स्यति मम व्याधिः, शीघ्रं भैषज्ययोगतः।
गच्छेदानीं प्रमोदेन, रेवतीगृहिणीगृहम् ॥ ९ ॥

मलुयाकच्छ वन में रो रहा है। उसे बुला लाओ।" भगवान् की आज्ञा सुन कर श्रमण उसी समय वहाँ के लिए रवाना हो गए। वहाँ पहुँच कर सिंह अनगार को सावधान करके उनसे भगवान् का सन्देश कहा। सिंह अनगार गुरु-आज्ञा शिरोधार्य करके, मुनियों के साथ मालुयाकच्छ वन से शालकोष्ट वन में आए और गुरुजी को वन्दना करके उनके पास बैठे। उपस्थित हुये सिंह मुनि को महावीर स्वामी ने इस प्रकार आश्वासन दिया ॥ ७ ॥

समीप में बैठे हुए सिंह मुनि को तसल्ली देते हुए गुरु यों बोले—

भद्र ! तू रोता क्यों है ? छह मास में मेरी मृत्यु नहीं होगी। मैं इस पृथिवी मंडल पर साढ़े पन्द्रह वर्ष तक मौजूद रहूँगा ॥ ८ ॥

श्रीमहावीर, सिंह अनगार से कहते हैं—तेरा रोना व्यर्थ है, रोने का कोई कारण नहीं। अज्ञ लोग सत्य को नहीं जानते। यह अफवाह मिथ्या है। इस अफवाह को फैलाने वाला गोशाला का वचन भी मिथ्या है। जब कारण ही सत्य नहीं तो कार्य सत्य कैसे हो सकता है? छह महीने में मेरी मृत्यु नहीं होगी। इस भूतल पर मैं साढ़े पन्द्रह वर्ष पर्यन्त विचरण करूँगा। तू विषाद न कर। कहा भी है—हे सिंह ! मंखलि पुत्र गोशाला के तप के तेज से मैं पराभूत नहीं हुआ हूँ और न छह माह में मेरी मृत्यु ही होगी। अभी मैं साढ़े पन्द्रह वर्ष तक और विचरूँगा ॥ ८ ॥

जीवित रहने पर भी रोग का क्या होगा? कहते हैं—

औषधि के योग से मेरा रोग शीघ्र दूर हो जायगा। प्रसन्न होकर अभी रेवती श्राविका के घर जाओ ॥ ९ ॥

निवर्त्स्यतीति—रोगस्यापि नास्ति चिरकालिकत्वम् । तन्निवृत्त्युपायमपि जानाम्येव । मदर्थं तु तस्यापि नास्त्यावश्यकता तथापि त्वादृशानामाशङ्कां निवर्त्तयितुं दर्शयाम्युपायम् । यदीच्छा चेद्विनिवर्त्य विषादं प्रसन्नचित्तेनेदानीमेव रेवतीगाथापत्नीगृहं व्रज । तदुक्तं—"तं गच्छह णं तुमं सीहा ! मेंढियगामं नगरं रेवतीए गाहावतिणीए गिहे"—(भग० १५; १, पृ० ६८६) ॥ ९ ॥

तत्र यदनेषणीयं तत्प्रथमं दर्शयति—

द्वे कपोतशरीरे वै, तया मह्यमुपस्कृते ।
ते न ग्राह्ये यतस्तत्राधाकर्मदोपसंश्रयः ॥ १० ॥

द्वे इति—रेवतीगाथापत्न्या भक्तिवशात् द्वे कपोतशरीरे मदर्थमुपस्कृते ते तु नानेये, कुतः ? मदर्थं निष्पादितत्वात्तत्राधाकर्मदोषः संभवति । आधाकर्मदोपविशिष्टत्वात्तद्वस्तु न ग्राह्यमिति । मूलपाठस्तु—"तत्थ णं रेवतीए गाहावतिणीए ममं अट्ठाए दुवे कवोयसरीरा उवक्खडिया तेहिं नो अट्ठो"—(भग० १५; १, पृ० ६८६) ॥ १० ॥

किमानेयमित्याह—

मार्जारकृतकं पर्युषितं कुक्कुटमांसकम् ।
आनयैषणया सद्यो, भवेद्येनामयक्षयः ॥ ११ ॥

मार्जारकृतकमिति—यदन्यन्मार्जारकृतं पर्युषितं ह्यस्तननिष्पादितं कुक्कुटमांसकं तद्गृहे विद्यते तत प्रासुकमेषणाशुद्ध-

रोग भी चिरकालीन नहीं है। उसे दूर करने का उपाय भी मैं जानता हूँ। मुझे तो इसकी भी आवश्यकता नहीं परन्तु तुम जैसों की आशंका को दूर करने के लिए उपाय बताता हूँ। इच्छा हो तो विषाद को दूर कर, प्रसन्न मन से इसी समय रेवती गाथापत्नी के घर जाओ। कहा भी है—हे सिंह! मेंढिकग्राम नामक नगर में रेवती गाथापत्नी के घर जाओ ॥ ९ ॥

वहाँ जो अनेषणीय है उसे पहिले दिखाते हैं—

उसने—गाथापत्नी ने—मेरे लिए दो कपोत-शरीर पकाये हैं, वे ग्राह्य नहीं हैं; क्योंकि उनके ग्रहण करने में आधाकर्म दोष है ॥ १० ॥

रेवती गाथापत्नी ने भक्ति के वश होकर मेरे लिए दो कपोत-शरीर पकाये हैं। वे लाने योग्य नहीं हैं। क्यों? इसलिए कि वे मेरे लिए पकाये हुए हैं अतः उन्हें ग्रहण करने से आधाकर्म दोष लगेगा। तात्पर्य यह कि आधाकर्म दोष से दूषित होने के कारण वह वस्तु ग्राह्य नहीं है। मूल पाठ इस प्रकार है—

तत्थ—रेवती गाथापत्नी ने मेरे लिए दो कपोत-शरीर सम्पन्न किये हैं। उनसे हमें प्रयोजन नहीं ॥ १० ॥

तो लाना क्या? सो कहते हैं—

मार्जारकृतक, कल बनाया हुआ कुक्कुटमांस (क) एषणा पूर्वक ले आओ, जिससे शीघ्र ही रोग दूर हो जाय ॥ ११ ॥

पूर्वोक्त कपोत-शरीर के अतिरिक्त, कल बनाया हुआ कुक्कुट-

मानय, येन भैषज्येन सद्य एव ममामयो विनश्येत् । एतत्पद्य-द्वयस्य भावार्थोऽग्रे विशदीभविष्यति, अत्र तु शब्दार्थमात्रमुक्तम् ! मूलपाठस्तु—"अत्थि से अन्ने पारियासिए मज्जारकडए कुक्कुडमंसए तमाहराहि एएणं अट्ठो"—(भग० १५;१, पृ० ६८६)॥११॥

आज्ञायां सत्यां यत्कृतं तदाह—

कृतं तथैव सिंहेन रेवतीप्रतिलाभितम् ।
शुद्धं द्रव्यं समानीतं, तेन शान्तिरजायत ॥ १२ ॥

कृतमिति—सिंहानगारः प्रमुदितः सन्नीर्यासमित्या रेवतीगृहं गतः । रेवती विनयभक्तिपूर्वकमभिवंद्य मुनिं पृष्टवती 'महानुभाव ! किमागमनप्रयोजनम् ?' मुनिना श्रीमद्वीरोक्तं, सर्वं वृत्तं निवेदितम्। गाथापत्नी साश्चर्यं पप्रच्छ—कथमेतन्मम रहस्यं ज्ञातं भवता ? तेनोक्तं,नाहं स्वयं जानामि किन्तु मम धर्माचार्यप्रज्ञापनेन । सा सहर्षं भक्तगृहं जगाम । तदुक्तं—"जेणेव भत्तघरे तेणेव उवा० पत्तगं मोएति पत्तगं मोएत्ता जेणेव सीहे अणगारे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता सीहस्स अणगारस्स पडिग्गहगंसि तं सव्वं सम्मं निस्सिरति" (भग० १५; १, पृ० ६८७) ।

ज्ञास्यन्ति पाठका अनेन पाठेन यद्रेवत्या दीयते स नाहारोऽपि तु भैषज्यमेव । यद्याहारः स्यात्तद्बद्धपात्रे न स्यात्, आहारस्तु मुक्ते पिहिते पात्रे स्यात्, अत्र तु 'पत्तगं मोएति'— पात्रकं मोचयतीत्यर्थः, बद्धस्यैव मोचनसंभवो, न तु पिहितस्य । वृत्तिकारेण तु 'पात्रकं पिठरकाविशेषं मुञ्चति—सिक्कके उपरिकृतं सत्तस्मादवतारयतीत्यर्थः' कुतः सिक्कके स्थापितमपि वस्तु किञ्चि-

मांसक उसके घर मौजूद है। वह प्रासुक है, उसे ले आओ। जिससे—जिस औषधि से—मेरा रोग जल्दी दूर हो जांय।

इन दोनों पदों का भावार्थ आगे स्पष्ट हो जायगा। यहाँ तो शब्दार्थ ही कहा है। मूल पाठ इस प्रकार है—"दूसरा जो पर्युषित मार्जार कृतक कुक्कुटमांसक है उसे ले आओ। वही काम का है" ॥११॥

आज्ञा होने पर जो किया सो कहते हैं—

सिंह मुनि ने वैसा ही किया। रेवती का दिया हुआ शुद्ध पदार्थ वह लाये और उससे रोग की शान्ति हुई ॥ १२ ॥

सिंह अनगार प्रसन्न होकर ईर्या समिति से रेवती के घर गए। रेवती ने विनय-भक्ति करने के बाद मुनि से पूछा—"महानुभाव! अपने आगमन का प्रयोजन कहिए।" मुनि ने वह सब वृत्तान्त कहा जो श्रीमान् महावीर ने कहा था। गाथापत्नीने आश्चर्य के साथ पूछा—"मेरी यह गुप्त बात आपने कैसे जानली?" मुनि ने कहा—"मैं स्वयं नहीं जानता किन्तु अपने धर्माचार्य के बताने से मैं जानता हूँ।"

वह प्रसन्न होकर भोजनशाला में चली गई।

मूल पाठ यह है—"वह भोजन गृह की ओर गई। पात्र को खोला। पात्र खोलकर सिंह अनगार की ओर आई और वह सब सिंह अनगार के पात्र में रख दिया।"

पाठकों को इस पाठ से विदित होगा कि रेवती ने जो कुछ दिया, वह आहार नहीं था वरन् औषधि थी। यदि भोजन होता तो बन्द बर्तन में न रखा होता। बल्कि बन्द न किये हुए—ढँके हुए बर्त्तन में होता। परन्तु यहाँ "पत्तगं मोइए (पात्रकं मोचयति) ऐसा पाठ है। मोचन करना अर्थात् खोलना। बँधे हुए को ही खोला जाता है—न कि ढँके हुए को। टीकाकार ने इसका, पिठरका विशेष का मोचन-

द्विशिष्टमेव स्यान्न तु सामान्याहारः । वस्तुतस्तु 'मोएइ' इति 'मुञ्च' धातोः प्रेरणारूपं बद्धस्य मोचनमेव तदर्थः समीचीनः, कृतं प्रसंगेन । रेवत्या प्रतिलाभितं भैषज्यं गृहीत्वा मुनिर्महावीरान्तिके गतः । तेन समानीतं शुद्धद्रव्यरूपं भैषज्यं दर्शितम् । भुक्तं चानासक्त्या प्रभुणा । तेन च शरीरे पूर्णमारोग्यं समजनि तदुक्तम्—"से विपुले रोगायंके खिप्पामेव उवसमं पत्ते हट्ठे जाए आरोग्गे बलियसरीरे तुट्ठा समणा, तुट्ठाओ समणीओ, तुट्ठा सावया, तुट्ठाओ सावियाओ, तुट्ठा देवा, तुट्ठाओ देवीओ, सदेवमणुयासुरे लोए तुट्ठे हट्ठे जाए समणे भगवं महावीरे"—भग० १५: १, पृ० ६८७ ॥ १२ ॥

॥ इति संक्षिप्तकथानकार्थः ॥

अथार्थमीमांसा ।

शरीरमांसमार्जारकृतकपोतकुक्कुटाः ।
षडेते द्व्यर्थकाःशब्दा, अर्हन्ति चिन्तनीयताम् ॥ १३ ॥

शरीर'' इति—'दुवे कवोयसरीरा' इति वाक्ये कपोतशरीरशब्दौ, 'मज्जारकडए' इति विशेषणवाक्ये मार्जारकृतकशब्दौ, 'कुक्कुडमंसए' इत्यत्र कुक्कुटमांसकशब्दौ । इत्थं त्रिषु वाक्येषु द्वौ द्वौ शब्दौ शंकास्पदौ स्तः । द्व्यर्थकत्वात् । शरीरशब्दस्य प्राणिशरीरवद्वनस्पतिशरीरेऽपि वर्तमानत्वात्, मांसशब्दस्य प्राणि-

करना अर्थात् छींके पर रक्खे हुए को नीचे उतारना, ऐसा अर्थ किया है। छींके पर रक्खी हुई वस्तु भी सामान्य आहार नहीं किन्तु कोई विशिष्ट वस्तु ही होना चाहिए। अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, दरअसल बात यह है कि 'मोएइ' यह मुच् धातु का प्रेरणा-रूप है और बँधे हुए को खोलना इसका अर्थ है।

रेवती द्वारा दिये हुए औषध को ग्रहण कर मुनि, श्री महावीर स्वामी के पास गए। उन्होंने अपने लाये हुए शुद्ध पदार्थ रूप दवा को दिखलाया। भगवान् ने अनासक्त भाव से उसका उपभोग किया। उसके सेवन से भगवान् का शरीर बिलकुल नीरोग हो गया।

कहा भी है—वह विपुल रोगातंक शीघ्र ही उपशम को प्राप्त हुआ। शरीर हृष्ट, नीरोग और सबल होगया। साधु, साध्वियाँ, श्रावक, श्राविकाएँ, देव, देवियाँ, तथा देवों के साथ नर असुर आदि समस्त लोक प्रसन्न हुए तब श्रमण भगवान् महावीर हृष्ट-तुष्ट हुए।

॥ संक्षिप्त कथानक समाप्त ॥

अर्थमीमांसा

शरीर, मांस, मार्जार, कृत, कपोत, और कुक्कुट, ये छह अनेकार्थक शब्द विचार करने योग्य हैं ॥ १३ ॥

'दुवे कवोयसरीरा' इस वाक्य में कपोत और शरीर शब्द, 'मज्जार—कडए' इस विशेषण वाक्य में मार्जार तथा कृतक शब्द, एवं 'कुक्कुडमंसए' यहाँ का कुक्कुट और मांसक शब्द; इस प्रकार इन तीन वाक्यों में आये हुए दो दो शब्द; संदिग्ध हैं क्योंकि वे दो-दो अर्थ वाले हैं। शरीर शब्द जैसे प्राणी के देह के अर्थ में प्रयुक्त होता है उसी प्रकार वनस्पति के शरीर अर्थ में प्रयोग किया जाता है। माँस शब्द प्राणी के मांस की

मांसवत्फलगर्भेऽप्युक्तत्वात्, मार्जारकुक्कुटकपोतशब्दानां प्राणिवद्वनस्पत्यर्थेऽपि विद्यमानत्वात्। तत्कथमिति तु प्रमाणपुरस्सरमग्रे दर्शयिष्यामः। द्व्यर्थका वाऽनेकार्थकाः शब्दाः श्रोतरि संशयजनकाः सन्तोऽवश्यमेव विचारणीयपथमायान्ति। एतादृशपरिस्थितौ प्रसंगादिकमेव निर्णायकं भवति। यथा केनचिच्छ्रेष्ठिना किंकरं प्रत्युक्तं 'सैन्धवमानय'। एतच्छ्रवणानन्तरं स संशयानश्चिन्तयति 'किं लवणमानयामि वाऽश्वम्'। प्रसङ्गोपस्थितौ तु निर्णयति। यन्नेदानीं लवणप्रयोजनं प्रयाणप्रसङ्गात्। यद्वा नाश्वप्रयोजनं भोजनप्रसङ्गात्। एवमत्राप्युभयार्थकान् पट् शब्दान् श्रुत्वा श्रोतारो गच्छन्त्येव चिन्तापथम्। अत्र ये सम्यग्दृष्टयः शास्त्रज्ञास्ते तु प्रसङ्गानुसारेण सम्यग्दृष्टितया सम्यगर्थमेव निश्चिन्वन्ति। ये तु मिथ्यादृष्टयस्ते विपरीतमेवार्थं गृह्णीयुः। तेषां तत्स्वभावत्वात्। यदुक्तं नन्दीसूत्रे—"सम्मदिट्ठिस्स सम्मसुयं मिच्छदिट्ठिस्स मिच्छसुयं" ॥ १३ ॥

विपरीतदृष्टयः कमर्थं गृहन्तीत्याह—

> विपर्यस्तधियः केचिन्मत्वा मांसार्थकांश्च तान्।
> शास्त्रस्यापि सदोषत्वं, ख्यापयन्ति यथाकथम् ॥१४॥

विपर्यस्तधियइति—यथा दृष्टिस्तथा सृष्टिः। सम्यग्ज्ञानदर्शनावासितान्तःकरणाः केचिज्जनाः प्रकरणादिकमनपेक्ष्यैव शुद्धमर्थं विहायोपर्युक्तानां पराणां शब्दानां प्राणिजन्यमांसाद्यर्थकत्वं

तरह फल के गूदे अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। सच मार्जार, कुक्कुट और कपोत शब्द जीव की भाँति वनस्पति के अर्थ में भी प्रयुक्त होते हैं। इन शब्दों का ऐसा प्रयोग किस प्रकार होता है, यह बात आगे चलकर बतावेंगे। दो अर्थ या अनेक अर्थ वाले शब्द, सुनने वाले को अवश्य सन्देह उत्पन्न करते हैं अतः उन पर विचार करना चाहिए। ऐसी दशा में प्रसंग आदि से ही निर्णय हो सकता है। मान लीजिए किसी सेठ ने अपने नौकर से कहा—'सैन्धव' ले आओ। यह सुनकर वह सन्देह में पड़ जाता है कि नमक लाऊँ या घोड़ा ले आऊँ? किन्तु प्रसंग का विचार करके वह निर्णय कर लेता है कि इस समय नमक की आवश्यकता नहीं है क्योंकि सेठजी यात्रा कर रहे हैं, अथवा इस समय घोड़े की आवश्यकता नहीं क्योंकि भोजन का प्रसंग है। इसी प्रकार दो अर्थ वाले इन छह शब्दों को सुनकर श्रोतागण विचार में पड़ जाते हैं। जो सम्यग्दृष्टि और शास्त्र के ज्ञाता हैं वे प्रसंग के अनुसार सम्यग्दृष्टि होने के कारण सम्यक् अर्थ का निश्चय कर लेते हैं किन्तु जो मिथ्यादृष्टि हैं वे उलटा ही अर्थ ग्रहण करते हैं क्योंकि मिथ्यादृष्टियों का स्वभाव ही ऐसा होता है। नन्दी सूत्र में कहा है—"सम्यग्दृष्टि का श्रुत सम्यक्-श्रुत है और मिथ्यादृष्टि के लिए वही श्रुत मिथ्याश्रुत होता है।" ॥ १३ ॥

मिथ्यादृष्टि क्या अर्थ लेते हैं? सो बताते हैं—

उलटी बुद्धि के लोग इन शब्दों को मांसार्थक मानकर,
जैसे-तैसे शास्त्र को भी दूषित बताते हैं ॥ १४ ॥

जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि। सम्यग्ज्ञान, दर्शन से जिनका अन्तःकरण संस्कृत नहीं है ऐसे कोई-कोई लोग प्रकरण आदि की परवाह न करके, शुद्ध अर्थ को त्याग कर उपर्युक्त छह शब्दों का अर्थ प्राणी-जन्य मांस

निर्धार्य यथाकथंचित् शास्त्रस्य-भगवत्यादिसूत्रस्यापि मांसादि-शब्दविशिष्टत्वात्-सदोषत्वं-दुष्टत्वं ख्यापयन्ति-प्रथयन्ति ॥ १४ ॥

वस्तुतस्तु स्वयं दुष्टः स्वदोषानेव परस्मिन्नारोपयतीत्याह—

मिथ्याबुद्धेर्विलासोऽयं, न सदसत्परीक्षणम् ।
प्राण्यर्थो घटते नैव, प्रसंगेऽत्र कथञ्चन ॥ १५ ॥

मिथ्याबुद्धेरिति—अयं प्रलापः शास्त्रस्य दुष्टत्वख्यापनरूपः न सत्यासत्यपरीक्षात्मकः, किन्त्वयं मिथ्याबुद्धे-र्विपरीतदृष्टेरेव विलासः परिणामः । मिथ्यामतिः सापेक्षवचनानां पर्यालोचन-पूर्वकं नार्थं चिन्तयति । यदि सदसत्परीक्षा स्यात्तदा संगतमर्थं विहायासंगतमर्थं न स्वीकुर्यात् । विवेकबुद्धिमांस्तु प्रकरणादिकं चिन्तयेत् । कः प्रसंगः, को दाता, को गृहीता, कस्मै गृह्यते, कीदृशं तस्य जीवनमिति सर्वमनुसंधायैवार्थं कुर्यात् । सम्यग्-दृष्ट्या वा शास्त्रदृष्ट्या चिन्त्यमानेऽस्मिन्प्रसंगे कथंचिदपि मार्जारा-दिशब्दानां प्राण्यर्थो-प्राणिमांसाद्यर्थो वा नैव घटते-युज्यत इत्यर्थः ॥ १५ ॥

कथं न घटत इत्याह—

नरकायुष्यहेतुत्वं, मांसाहारस्य दर्शितम् ।
स्थानांगादिषु सूत्रेषु, स्पष्टं श्रीमज्जिनेश्वरैः ॥ १६ ॥

नरकायुष्यहेतुत्वमिति—प्रासुकैषणीयभोजिनां मुनीनां द्वे गती एव भवतः—मोक्षो वैमानिकदेवगतिश्च । तत्रापि श्री-

आदि निश्चित करके जैसे-तैसे भगवती आदि शास्त्रों को भी मांस-प्रतिपादक कह कर दूषित करते हैं ॥ १४ ॥

वास्तव में वे स्वयं दोषी हैं और अपने ही दोषों का दूसरों पर आरोपण करते हैं यही दिखलाते हैं —

यह प्रलाप विपरीत बुद्धि का फल है, सत् असत् की परीक्षा का नहीं। क्योंकि इस प्रकरण में प्राणी-अर्थ किसी भी प्रकार नहीं घट सकता ॥ १५ ॥

शास्त्र को दूषित करने रूप यह प्रलाप अपनी दुष्टता को प्रकट करता है। सत्य-असत्य की परीक्षा से इसका कुछ सम्बन्ध नहीं है। यह तो मिथ्या बुद्धि का ही परिणाम है। मिथ्यादृष्टि, सापेक्ष वचनों के अर्थ को विचार पूर्वक चिन्तन नहीं करता। यदि सत्य-असत्य की परीक्षा करे तो संगत अर्थ को छोड़ कर असंगत अर्थ को क्यों स्वीकार करे? विवेक-बुद्धि वाले को तो प्रकरण आदि का विचार करना चाहिए। कौन देता है? कौन लेता है? किस लिए लेता है? लेने वाले का जीवन कैसा है? इन सब बातों पर नज़र रखते हुए ही अर्थ करना चाहिए। सम्यग्दृष्टि से या शास्त्र दृष्टि से विचार करने पर इस प्रसंग में मार्जार आदि शब्दों का प्राणी या प्राणी का मांस आदि अर्थ नहीं घटता है ॥ १५ ॥

न घटने का कारण—

जिनेश्वर भगवान् ने स्थानांग आदि सूत्रों में मांसाहार को नरकायुष्य का कारण स्पष्ट रूप से बताया है ॥ १६ ॥

प्रासुक-एषणीय भोजन करने वाले मुनियों को दो ही गतियाँ प्राप्त हो सकती हैं—मोक्ष अथवा वैमानिक देवगति। भगवान् महावीर स्वामी को तो मोक्ष ही प्राप्त हुआ क्योंकि वे तीर्थंकर थे। लेकिन मांसा-

न्महावीरस्य तु मोक्षगमनमेव । अथ मांसाहारेण तु नरकगतिः सम्भवति । तदुक्तम् स्थानांगसूत्रचतुर्थस्थाने "चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरइयत्ताए कम्मं पकरेंति तं जहा—महारंभयाए, महापरिग्गहयाए, पंचिंदियवहेणं, कुणिमाहारेणं"। आदि शब्देन भगवत्यौपपातिकसूत्रयोर्ग्रहणमर्थाद्भगवत्यष्टमशतकस्य नवमोद्देशके तथौपपातिकसूत्रे देशनाधिकारेऽप्येवमेवोक्तम्। नैतद्येन केनाप्युक्तमपितु श्रीमज्जिनेश्वरैः। नात्र काचिच्छङ्का अपितु स्पष्टमुक्तमित्यर्थः। एवं च मांसाहारस्य नरकायुष्यहेतुत्वं यैरुक्तं त एवोत्तमपुरुषाः किं मांसाहारं कुर्युः ? नैव कुर्युरित्यर्थः ॥ १६ ॥

किञ्च—

मांसं निष्पद्यते यत्र, स्थाने तत्र मुनीश्वरैः ।
अन्नाद्यर्थं न गन्तव्यं, निशीथे तन्निषिध्यते ॥ १७ ॥

मांसमिति—मांसाहारनिष्पत्तिस्थानेऽन्यदशनादिकं ग्रहीतुं मुनिना न गन्तव्यमिति निशीथसूत्रे नवमोद्देशके निषेधः कृतः। तथाहि—"जे भिक्खू रएणो खत्तियाएं जाव भिसित्ताणं मंसक्खायाए वा मच्छखायाए वा छवियक्खायाए वा बहिया निग्गयाए वा असणं पाणं; खाइमं, साइमं जाव साइज्जइ"। यद्वस्तुनिष्पत्तिस्थानस्यापि दुष्टत्वं तद्वस्तुदुष्टत्वस्वभावेनोक्तं, तर्हि वस्तुनस्तु का कथा ? अनेन मांसस्याशुद्धत्वं दुष्टत्वं च प्रतिपादितम् ॥ १७ ॥

हार से नरक गति होती है। स्थानांग सूत्र के चौथे स्थान में कहा है—जीव चार स्थानों (कारणों) से नरकायु कर्म बांधते हैं—महा आरंभ से, महा परिग्रह से, पंचेन्द्रिय जीवों के वध से और कुणिम—मांस को आहार से। श्लोक में जो आदि पद दिया है उससे भगवती और औपपातिक सूत्र का ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् भगवती शतक आठवें के नौवें उद्देशक में तथा औपपातिक सूत्र के देशना अधिकार में भी यही बात कही गई है। यह कथन किसी ऐसे-वैसे का नहीं किन्तु भगवान् जिनेन्द्र का कथन है। भगवान् का यह कथन एकदम स्पष्ट है—इसमें ज़रा भी सन्देह की गुंजाइश नहीं है। इस प्रकार जिन्होंने मांसाहार को नरकायु का कारण बताया है क्या वही उत्तम पुरुष मांसाहार करेंगे? कदापि नहीं कर सकते ॥ १६ ॥

और भी—

जिस जगह मांस पकाया जाता हो वहाँ मुनीश्वरों को अन्न आदि के लिए भी न जाना चाहिए। निशीथ सूत्र में ऐसा निषेध किया गया है ॥ १७ ॥

जिस स्थान पर मांस पकाया जाता हो वहाँ मुनि को दूसरा अन्न आदि आहार लाने के लिए भी नहीं जाना चाहिए, ऐसा निशीथ सूत्र में नौवें उद्देशक में निषेध किया है। वह निषेध इस प्रकार है—जो भिक्षु मांस, मछली, सुट्टे होले आदि लाने वाले राजा या क्षत्रिय का अशन पान, खाद्य, स्वाद्य, (आहार लेता है उसको चौमासी प्रायश्चित्त आता है) जिस पदार्थ के दोष के कारण, उसके निष्पत्ति स्थान तक को दूषित माना गया है, उस पदार्थ के दोष का तो कहना ही क्या! इस उदाहरण से मांस की अशुद्धता और दुष्टता का प्रतिपादन किया गया है ॥ १७ ॥

पुनश्च—

उत्तराध्यायसूत्रेऽपि दर्शितं मांसभोजिनः ।
फलं दुर्गतिवन्धादि, दुःखदौर्भाग्यदायकम् ॥ १८ ॥

उत्तराध्यायसूत्रे इति—द्वितीयमूलसूत्रे श्रीमदुत्तराध्ययने त्वनेकस्थलेषु मांसाहारकर्त्तुर्दुःखदारिद्र्यजनकं दुर्गतिवन्धादि फलं भवतीति तत्तत्स्थले दर्शितम् । तथाहि—पञ्चमाध्ययनस्य नवम्यां गाथायाम्—

"हिंसे वाले मुसावाई, माइल्ले पिसुणे सढे ।
भुञ्जमाणे सुरं मंसं, सेयमेयं ति मन्नइ ॥ ५ । ९ ॥"

सुरामांसभोजिनो वालमरणं भवति न तु पंडितमरणमिति । वालमरणाच्च दुर्गतिरेवेति दुर्गतिफलकत्वं मांसाहारस्य दर्शितम् । एवं सप्तमाध्ययने—

"इत्थिविसयगिद्धे य, महारम्भपरिग्गहे ।
भुञ्जमाणे सुरं मंसं, परिवूढे परंदमे ॥ ७ । ६ ॥
अयकक्करभोई य, तुंदिल्ले चियलोहिए ।
आउयं नरए कंखे, जहाएसं व एलए ॥ ७ । ७ ॥"

अत्रापि सुरामांसभोजिनो नरकायुष्यवंधकत्वं विज्ञापितम् । एवमेवैकोनविंशतितमेऽध्ययने—

"तुहं पियाइं मंसाइं, खंडाइं सोल्लगाणि य ।
खाविओ विसमंसाइं, अग्गिवण्णाइंऽणेगसो ॥ १९ । ७० ॥

फिर भी—

उत्तराध्ययन सूत्र में भी मांसभोजी को दुःख और दुर्भाग्य देने वाला दुर्गति का बन्ध आदि फल दिखाया है ॥ १८ ॥

दूसरे मूल सूत्र श्रीमदुत्तराध्ययन में, अनेक स्थलों पर मांसाहार करने वाले को दुःख और दरिद्रता-जनक दुर्गति का बन्ध आदि फल होता है, ऐसा कहा गया है।

पाँचवें अध्ययन की नववीं गाथा में लिखा है—

हिंसक, वाल, मृषावादी, मायावी, चुगलखोर, और शठ मनुष्य मदिरा और मांस का भोगना श्रेयस्कर है, ऐसा मानता है। (५-६)

मदिरा-माँस-भोजी का बालमरण होता है—पण्डित मरण नहीं होता और बालमरण से दुर्गति ही होती है, अतएव मांसाहार को दुर्गति का कारण यहाँ बताया है। सातवें अध्ययन में कहा है—

स्त्री आदि विषयों में आसक्त, महा आरंभी, महा परिग्रही, दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाला, मदिरा और मांस का सेवन करता हुआ डूबता है। (७-६)

यहाँ भी मदिरा-माँस-भोजी को नरकायु का बन्ध होना प्रगट किया है। उन्नीसवें अध्ययन में कहा है—

"तुझे मांस वहुत प्रिय था ऐसा कह कर परमाधामी ने मुझे मेरे ही शरीर के मांस के टुकड़े का सोल्ला वना कर अनेक वार खिलाया"। (७०)

तुहं पिया सुरा सीहू, मेरओ य महूणि य ।
पाइओ मि जलंतीओ वसाओ रुहिराणि य ॥१९।७१॥

मृगापुत्रः स्वमातरं नरकदुःखं वर्णयति । तद्दुःखस्य पूर्वभवाचरितमदिरापानमांसभक्षणत्वप्रयोज्यत्वं दर्शयति । एतैः सर्ववचनैर्मदिरापानमांसभक्षणस्यैकान्तदुष्टत्वं प्रतिपाद्यते ॥ १८ ॥

किञ्च—

पिशितं भुञ्जमानानां, मनुजानामनार्यता ।
सूत्रे सूत्रकृतांगे त्वार्द्रकुमारेण भाषिता ॥ १९ ॥

पिशितमिति—सूयगडाभिधे द्वितीयेऽङ्गसूत्रे षष्ठाध्ययने बौद्धार्द्रकुमारयोः संवादे मांसभक्षणस्य कर्मबन्धाहेतुत्वं मन्यमानान् बौद्धान्प्रति वक्त्यार्द्रकुमारः—

"तं भुञ्जमाणा पिसितं पभूतं, णो उवलिप्पामो वयं रएणं ।
इच्चेवमाहंसु अणज्जधम्मा, अणारिया बालरसेसु गिद्धा ॥ ३८ ॥
जे यावि भुंजंति तहप्पगारं, सेवन्ति ते पावमजाणमाणा ।
मणं न एयं कुसला करेंति, वाया वि एसा बुइया उ मिच्छा ॥३९॥"

पिशिताशिनोऽनार्या बाला रसगृद्धा अनार्यधर्माण इति विशेषणचतुष्टयेन मांसाशनस्यैकान्तनिन्द्यत्वं दर्शितम् । कुशलपुरुषास्तु तदिच्छामपि न कुर्वन्ति । मांसस्य निर्दोषत्वप्रतिपादनपरा वाण्यपि मिथ्यैवेत्येतत्सर्वं वर्णनं मांसाहारनिषेधायालमस्ति । एतट्टीकाकारेण प्रकृतविषये शास्त्रान्तरीयप्रमाणान्यप्युपन्यस्तानि तानि चेमानि—

" तुझे ताड़ी सुरा-मादिरा बहुत प्रिय थी ऐसा कह कर परमाधामी ने मुझे जलता हुआ रुधिर और चर्बी पिलाई"

(७१)

और भी —

सूत्रकृतांग सूत्र में, मांसभोजी मनुष्यों को आर्द्रकुमार ने अनार्य कहा है ॥ १९ ॥

सूयगडांग नामक दूसरे अंगसूत्र में, छठे अध्ययन में बौद्धों का और आर्द्रकुमार का संवाद है। बौद्ध मांस भक्षण को कर्मबन्ध का कारण नहीं मानते। आर्द्रकुमार उनसे कहते हैं—

"हम प्रभूत मांस-भक्षण करते हुए भी कर्मों से लिप्त नहीं होते" ऐसा वही कहते हैं जो अनार्य धर्म वाले हैं, स्वयं अनार्य और बाल हैं तथा जो रसों में आसक्त हैं।" ॥३८॥

"जो मांस आदि का भोग करते हैं और यथार्थता को न जानते हुए पाप का सेवन करते हैं। कुशल मनुष्य उसकी इच्छा भी नहीं करते। मांस का समर्थन करने वाले वचन भी मिथ्या ही हैं" ॥ ३९ ॥

मांस भक्षक लोग अनार्य हैं, बाल हैं, रसलोलुपी हैं और अनार्य-धर्मी हैं, इन चार विशेषणों से मांस-भोजन की सर्वथा निन्दनीयता दिखलाई गई है। बुद्धिमान् पुरुष तो उसकी इच्छा भी नहीं करते। मांस का प्रतिपादन करने वाली वाणी भी मिथ्या ही है। यह सब वर्णन मांसाहार के निषेध के लिए पर्याप्त हैं। इसके टीकाकार ने इस विषय के अन्य शास्त्रों के भी प्रमाण दिये हैं। वे यह हैं—

"मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाम्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वं, प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ १ ॥

योऽत्ति यस्य च तन्मांसमुभयोः पश्यतान्तरम् ।
एकस्य क्षणिका तृप्तिरन्यः प्राणैर्वियुज्यते ॥ २ ॥

श्रुत्वा दुःखपरम्परामतिघृणां, मांसाशिनां दुर्गतिं,
ये कुर्वन्ति शुभोदयेन विरतिं, मांसादनस्यादरात् ।
सद्दीर्घायुरदूषितं गदरुजा, संभाव्य यास्यन्ति ते,
मर्त्येषूद्भटभोगधर्ममतिषु, स्वर्गापवर्गेषु च ॥ ३ ॥

एवमनेकप्रमाणसद्भावेऽपि विस्तरभयाद् दिङ्मात्रमत्र दर्शितम् ॥१९॥

नन्वाचारांगद्वितीयश्रुतस्कन्धादौ मांसार्थसाधका अपि पाठाः सन्ति बाधकप्रमाणवत्साधकप्रमाणं किं न स्वीक्रियत इत्यत आह—

न चाचारद्वितीयस्थाः, पाठा मांसार्थसाधकाः ।
यतश्चिन्त्यं तदस्तित्वं विरोधादागमान्तरैः ॥२०॥

नेति—आचारस्याचारांगाभिधसूत्रस्य द्वितीयश्रुतस्कन्ध आचारद्वितीयः । आचारस्य द्वौ श्रुतस्कन्धौ स्तस्तत्र यो द्वितीयश्रुतस्कन्ध इत्यर्थः । तत्र तिष्ठन्तीति तत्स्थाः । पाठा आलापकाः "से भिक्खू वा० जाव समाणे से जं पुण जाणेज्जा मंसाइयं वा

"जिसका मांस मैं इस लोक में खाता हूँ, मां (मुझको) स (वह) परलोक में खायगा । यही मांस की मांसता है— अर्थात् इसीलिए उसे 'मां-स' कहते हैं ।

"जो जिसके मांस को भक्षण करता है, उनके अन्तर को देखो—एक की तो क्षणिक तृप्ति होती है और दूसरा बेचारा प्राणों से मुक्त होता है" ॥ २ ॥

"मांस-भक्षियों की अत्यन्त घृणास्पद और दुःख देने वाली दुर्गति को सुन कर जो पुरुष पुण्योदय से मांस-भक्षण का त्याग करते हैं, वे दीर्घायु पाते हैं, नरोग होते हैं, खूब भोगोपभोग और धर्म को प्राप्त करने वाले मनुष्यों में तथा क्रमशः स्वर्ग और मोक्ष में जाते हैं ॥३॥

इस प्रकार के अनेक प्रमाण मौजूद होने पर भी विस्तार के भय से यहाँ सिर्फ दिग्दर्शन मात्र कराया गया है ॥ १९ ॥

आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध आदि में मांसार्थ के साधक पाठ भी हैं। आप बाधक प्रमाणों की तरह साधक प्रमाणों को क्यों नहीं स्वीकार करते ? इसका समाधान—

आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध का पाठ मांसार्थ को सिद्ध नहीं करता, क्योंकि आगमान्तर के साथ विरोध होने से उन पाठों का अस्तित्व विचारणीय है ॥ २० ॥

आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध को यहाँ 'आचारद्वितीय' कहा है। आचारांग के दो श्रुतस्कन्ध हैं। उनमें से द्वितीय श्रुतस्कन्ध "से भिक्खू वा० जाव समाणे से जं पुण जाणेज्जा मंसाइयं वा मच्छाइयं वा" इत्यादि

मच्छाइयं वा......" इत्यादयः पिण्डेपणाध्ययनसत्का न मांसार्थ-साधकत्वेनोपादातुं शक्यन्ते कुतो नेत्याह—यत इति यस्मात्कारणात् आगमान्तरैः—मांसादिनिषेधकैः स्थानाङ्गभगवतीनिशीथाद्यागमपाठैः। विरोधात्—वाधितत्वात्। ननु द्वितीयश्रुतस्कन्धपाठैरागमान्तरपाठानामेव वाधितत्वमस्तु विनिगमनाविरहादिति चेन्न। आचाराङ्गद्वितीयश्रुतस्कन्धस्य प्रथमश्रुतस्कन्धात्स्थविरैरुद्धृतत्वेन निर्युक्तकारेण वहिरङ्गत्वप्रतिपादनात्। वहिरङ्गविधितोऽन्तरङ्गविधेर्वलीयस्त्वान्मांसादिपाठानां वाधितत्वे विनिगमनासत्वात्। तदस्तित्वम्—तेषां द्वितीयश्रुतस्कन्धगतपिण्डेपणाध्ययनसत्कपाठानामस्तित्वं सद्भावः। चिन्त्यम्–चिन्तनीयम् विचारणीयमस्तीति। वहिरङ्गानां तत्पाठानामस्तित्वेऽपि सन्देहास्पदे ते पाठाः स्वयमस्थिरात्मवन्तः कथं मांसार्थसाधकाः स्युः ? नैव स्युरित्यर्थः॥ २०॥

आगमविरोधं प्रदर्श्य प्रकृतप्रकरणविरोधं दर्शयते—

> द्रव्यशुद्धेन दानेन, देवायुर्वद्धमेतया।
> जिननाम च मांसार्थ—करणेऽदो न सम्भवेत्॥२१॥

द्रव्यशुद्धेनेति—रेवतीगाथापत्न्या सिंहानगाराय यद्द्रव्यशुद्धं दानं दत्तं तस्य प्रभावेण तया तदानीमेव देवगत्यायुष्यं तीर्थङ्करनामकर्म च वद्धमित्युक्तं तत्रैव प्रकरणे स्थानाङ्गसूत्रस्य नवमे स्थाने च। तथाहि—"तएणं तीए रेवतीए गाहावतिणीए तेणं दव्वसुद्धेणं दायगसुद्धेणं तवस्सिसुद्धेणं तिकरणसुद्धेणं पड़िगाहगसुद्धेणं दाणेणं सीहे अणगारे पडिलाभिए समाणे देवाउए निवद्धे।"

पाठ मांसार्थ का समर्थन करने के लिए उपयोग नहीं किये जा सकते, क्योंकि मांसादि का निषेध करने वाले स्थानाङ्ग भगवती निशीथादि आगमपाठों से ये पाठ बाधित हैं। यदि यह कहो कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पाठों के द्वारा ही दूसरे आगमों के पाठ का बाध विनिगमना (एक पक्ष की युक्ति) के अभाव से क्यों न हो, तो यह कथन ठीक नहीं। क्योंकि आचाराङ्ग द्वितीय श्रुतस्कन्ध का पाठ स्थविरों ने प्रथम श्रुतस्कन्ध से लेकर उद्धृत किया है और निर्युक्तिकार ने उसका बहिरङ्गत्व प्रतिपादन किया है। 'बहिरंग विधि से अन्तरङ्ग विधि बलवान् होती है' इस नियम के अनुसार मांसादि बोधक पाठों का बाध होने पर विनिगमना हो जाती है। उन द्वितीय श्रुतस्कन्ध गत पिण्डेषणाध्ययन संलग्न पाठों का होना विचारणीय है। इसलिये बहिरंग उन पाठों का अस्तित्व ही सन्देहास्पद है। वे पाठ स्वयं अस्थिर होते हुए किस प्रकार मांसार्थ साधक हो सकते हैं अर्थात् किसी प्रकार भी नहीं।

आगम विरोध बताकर प्रकृत प्रकरण से विरोध दिखाते हैं:—

इसने—रेवती गाथापत्नी ने—द्रव्य शुद्ध दान से देवायु का बंध किया इतना ही नहीं बल्कि तीर्थङ्करनामगोत्र को भी बाँधा। यदि मांस अर्थ लिया जाय तो यह दोनों बातें नहीं बन सकती हैं॥ २१ ॥

गाथापत्नी रेवती ने सिंह अनगार के लिए जो द्रव्यशुद्ध दान दिया था, उसके प्रभाव से उसने उसी समय देवायु और तीर्थङ्करनाम गोत्र का बन्ध किया। यह उसी प्रकरण में लिखा है। वह पाठ इस प्रकार है—तएणं तीए रेवतीए गाहावतिणीए तेणं दव्वसुद्धेणं दायगसुद्धेणं तवस्सिसुद्धेणं तिकरणसुद्धेणं पडिगाहगसुद्धेणं दाणेणं सीहे अणगारे पडिलाभिए समाणे देवाउए निबद्धे।" स्थानाङ्गसूत्र में रेवती ने तीर्थ-

भग० १५; १, पृ० ६८७ समणस्स णं भगवतो महावीरस्स तित्थंसि णवहिं जीवेहिं तित्थगरणामगोत्ते कम्मे णिव्वत्तिते सेणिएणं, सुपासेणं, उदाइणा, पोट्टिलेणं अणगारेणं, दढाउणा, संखेणं, सयएणं, सुलसाए, रेवतीए। स्था० ९, सूत्र ६९१, पृ० ४५५।

रेवत्या दत्तं यदि प्राणिमांसं स्यात्तदोक्तपाठौ न संगच्छे-याताम्। मांसस्याशुद्धद्रव्यत्वेन दुष्टत्वस्य सपद्येव निदर्शनात्। किञ्च तीर्थङ्करनामदेवायुष्यबंधोऽपि न संभवेत्। मांसा-हारस्य नरकायुष्यहेतुत्वेन स्थानाङ्गादौ प्रतिपादितत्वात्। तथा च कपोतादिशब्दानां प्राणिमांसार्थपरत्वे स्वीकृते द्रव्यशुद्धिस्तीर्थङ्कर-नामकर्मदेवायुष्यबंधश्चेत्येतन्न संगच्छेत ॥ २१ ॥

मांसार्थे 'कडए' शब्दस्यानन्वयापत्तिः स्यादित्याह—

कडए इति शब्दस्य, मांसे नान्वययोग्यता।
न हि निष्पाद्यते मांसं, मार्जारेण कथंचन ॥२२॥
छिन्नं वा भक्षितं तस्य, लक्ष्यार्थः क्रियते तदा।
वाक्यार्थासंगतिः स्पष्टा, दातुं योग्यं न तद्भवेत् ॥२३॥

कडए इति—'मज्जारकडए कुक्कुडमंसए' इति वाक्ये मार्जारेण कृतमिति तृतीयातत्पुरुषे कृते कृतमित्यस्य निष्पादितमि-त्यर्थे मार्जारनिष्पादितमित्यर्थः स्यात्। स च न संभवति। न हि शस्त्रादिना मार्जारः कुक्कुटमांसं निष्पादयितुं शक्नोति। तत्सकाशे शस्त्रादीनामभावात्। दंतदंष्ट्रादिकमेव शस्त्रं तेन च कुक्कुटं छिनत्ति भक्षयति वा मार्जार इत्युच्यते तदा महदसामञ्ज-

ङ्करनामगोत्र बाँधा मूलपाठ इस प्रकार है:—समणस्स भ० महावीरस्स तित्थंसि णवहिं जीवेहिं तित्थगरणामगोत्ते कम्मे णिव्वतिते सेणिएणं.......
......रेवतीएणं सू० ६९१ पृ० ४५५।

रेवती के द्वारा दिया हुआ पदार्थ यदि प्राणी का मांस होता तो यह पाठ संगत नहीं होता क्योंकि मांस अशुद्ध द्रव्य है और उसकी अशुद्धता अभी बतलाई जा चुकी है। दूसरी बात यह है कि यदि रेवती ने प्राणी-मांस दिया होता तो देवायु का बन्ध और तीर्थङ्करनामगोत्र कर्म का बन्ध भी न होता, क्योंकि स्थानांग आदि सूत्रों में मांसाहार को नरकायु का कारण बताया है। तात्पर्य यह है कि कपोत आदि शब्दों को प्राणी-मांस अर्थ का प्रतिपादक माना जाय तो द्रव्यशुद्धि और देवायु का बंध, यह दोनों बातें नहीं बन सकतीं ॥ २१ ॥

मांस अर्थ मानने पर 'कडए' शब्द का अनन्वय—

कडए शब्द का 'मांस' के साथ संबंध नहीं घटता, क्योंकि मार्जार के द्वारा मांस का निष्पादन नहीं किया जाता है। यदि मार्जार के द्वारा छेदा या खाया हुआ, ऐसा 'कडए' शब्द का लाक्षणिक अर्थ लिया जाय तो वाक्यार्थ की असंगति स्पष्ट ही है। ऐसा पदार्थ दान देने योग्य नहीं हो सकता ॥ २२-२३ ॥

'मज्जारकडए कुक्कुड मंसए' इस वाक्य में 'मार्जारेण कृतम् (मार्जार के द्वारा किया हुआ)' इस प्रकार तृतीया तत्पुरुष समास करने पर मार्जार-कृत का अर्थ मार्जार द्वारा निष्पादित, होता है। यह अर्थ असभव है, क्योंकि मार्जार शस्त्र आदि से कुक्कुट-मांस का निष्पादन नहीं कर सकता। मार्जार के पास शस्त्र होते ही नहीं हैं। यदि कोई यह कहे कि दाँत और डाढ़ें आदि ही मार्जार के शस्त्र हैं और उन्हीं से वह कुक्कुट के मांस को निष्पादन करता एवं भक्षण करता है। सो यह लाक्षणिक कथन और बे सिर पैर का है। क्योंकि ऐसी वस्तु तो दान के योग्य हो

स्यम्। तद्वस्तु दानयोग्यमेव न भवेत्। तथा च वाक्यबोधा-नापत्त्या वाक्यार्थसंगतिः स्पष्टैव। एकापत्तिदूरीकरणेऽपरापत्तिः समागता तथा च व्याघ्रनदीन्यायप्रसंगः ॥२२॥२३॥

कथमसामञ्जस्यमित्याह—

मार्जारोच्छिष्टमन्नाद्यं, गण्यतेऽन्त्यापि दूषितम्।
शिष्टाः स्पृशन्ति नैवैतद्, भक्षणस्य तु का कथा २४॥

मार्जारोच्छिष्टमिति—वर्तमानकालेऽपि यदन्नदुग्धादिके खाद्यवस्तुनि मार्जारेण मुखं निविष्टं तद्वस्तु दूषितमखाद्यं नीचवर्णै-रपि मन्यते। शिष्टजनास्तु तत्स्पर्शमपि त्यजन्ति। भक्षणं तु सुतरामेव त्यजन्ति ॥२४॥

शरीरशब्दप्रयोगोऽपि मांसार्थबाधक इत्याह—

पक्षाद्यङ्गसमष्टिः स्याच्छरीरं भुज्यते न तत्।
प्रयोगोऽत्र शरीरस्य, मांसार्थबाधकस्ततः ॥२५॥

पक्षाद्यङ्गसमष्टिरिति—'दुवे कवोयसरीरा' इत्यत्र शरीर-शब्देन यदि मांसमेवाभिमतं स्यात्तदा 'कवोयसरीरा' इत्येव प्रयुज्येत। परं च तत्रापि 'दुवे' शब्दो बाधितः स्यात्तन्मांसे द्वित्वासंभवात्। न च द्वित्वं कपोतेऽन्वेति तद्द्वारा तन्मांसेऽन्वय इति वाच्यम्। 'दुवे' इत्यस्य समस्तत्वेन शरीर एवान्वयो घटते न तु कपोते। किं च शरीरशब्दस्य मांसार्थकत्वं न संभवत्येव। मांसं तु शरीर-

ही नहीं सकती। इस प्रकार मांस अर्थ करने से वाक्य का ठीक ठीक अर्थ ही नहीं लगता। अतएव एक आपत्ति को दूर करने चले तो दूसरी आपत्ति आ गई ! यह तो वही बात हुई कि इधर कुवा उधर खाई ॥२२-२३

लाक्षणिक अर्थ अयुक्त क्यों है ?—

मार्जार का जूठा अन्न आदि आज कल भी दूषित माना जाता है। उसे शिष्ट पुरुष छूते भी नहीं हैं, फिर खाने की तो बात ही क्या है ? ॥ २४ ॥

वर्तमान काल में भी जिस अन्न या दूध आदि खाद्य पदार्थ में मार्जार (बिलाव) मुँह डाल देता है उसे नीच वर्ण के लोग भी अखाद्य और दूषित मानते हैं। शिष्ट जन तो उसका स्पर्श भी नहीं करते—इस प्रकार भक्षण का स्वयं ही त्याग हो जाता है ॥ २४ ॥

'शरीर' शब्द का प्रयोग भी मांसार्थ का बाधक है—

पंख आदि समस्त अंगों का समुदाय शरीर कहलाता है। यह शरीर भक्षण नहीं किया जा सकता। यहाँ पर 'शरीर' शब्द का प्रयोग किया गया है अतः मांसार्थ करने में इससे बाधा आती है ॥ २५ ॥

'दुवे कवोयसरीरा' यहाँ शरीर शब्द का मतलब यदि मांस होता तो फिर 'कवोयमंसा' ऐसा प्रयोग होना चाहिए था। किन्तु ऐसा पाठ होता तो भी 'दुवे' शब्द वृथा हो जाता, क्योंकि 'मांस' के लिए 'दो' विशेषण नहीं लगाया जा सकता। यदि कोई यह कहे कि 'दो' विशेषण मांस का नहीं किन्तु कपोत का है, सो ठीक नहीं। कारण यह है कि यहाँ 'कपोतशरीर' शब्द समासयुक्त है और समास-युक्त होने से शरीर के साथ ही उसका ('दो' विशेषण का) अन्वय घटता है, कपोत शब्द के साथ नहीं।

गतमेकं वस्तु तद्भिन्नानां रुधिरादीनामपि शरीरे समावेशात् । शरीरश्चावयवी मांसं तु तदवयवः, अवयविनोऽनेकावयवसमष्टिरूपत्वात्तदाह पत्ताद्यंगेति पत्ताः पिच्छानि आदिशब्देन चरणचञ्च्वादयस्तेषामंगानां समष्टिरेव शरीरं, पिच्छादिसहितं पक्षिशरीरं न क्वापि केनचिदप्युपस्क्रियते भुज्यते वा मांसमात्रमेव भुज्यते न तु पिच्छादिकम् । ततश्च शरीरशब्दस्य द्विशब्दस्य च प्रयोग एवात्र मांसार्थबाधकः सिद्ध्यति न तु तत्साधकः । तत्प्रयोगस्य सिद्धान्ते कथं सार्थक्यमित्यग्रे दर्शयिष्यामः ॥ २५ ॥

रोगचिकित्सायाः प्रकृतिपरीक्षा मूलम्—

प्रकृतिश्चिन्त्यते सुज्ञैरादावौषधरोगयोः
अन्यथा हानतास्थाने, वृद्धी रोगस्य जायते ॥२६॥

प्रकृतिरिति—सुज्ञैर्वैद्यैरादौ रोगश्चिकित्स्यते । रोगस्य का प्रकृतिः, कः समयः, पुरुषस्य कीदृशमाचरणं, का प्रकृतिरिति निरीक्षणानन्तरं कीदृशप्रकृतिकस्यौषधस्य सेवनमारोग्यजनकं भवेदिति सम्यक् पर्यालोच्य भैषज्यं ददाति सुवैद्यस्तदा रोगस्य हानिर्भवति । अन्यथा—कृति विज्ञानं विना यद्योषधं दीयते तदा रोगहानिस्तु दूरे तिष्ठति प्रत्युत हानिस्थाने तद्वृद्धिरेव स्यादिति सामान्यनियमः । अत्र महावीरस्वामिनाऽपि तन्नियमानुसारेणैव रोगस्वभावप्रतिपक्षिस्वभावकमौषधमानेतुमादिष्टमिति ॥ २६ ॥

दूसरी बात यह है कि 'शरीर' का अर्थ मांस नहीं हो सकता। मांस, शरीर में रहने वाली एक वस्तु है, शरीर नहीं। शरीर में मांस के अतिरिक्त रुधिर आदि अन्य पदार्थों का भी समावेश होता है। शरीर अवयवी है, मांस अवयव है। अवयवी, अनेक अवयवों का समुदाय होता है। इसीलिए ऊपर कहा है कि पंख और (आदि शब्द से) पैर चोंच आदि अंगों का समूह शरीर कहलाता है और पंख आदि के साथ पक्षी का शरीर न तो कोई कभी खाता है न पकाता है। अर्थात् मांस ही खाया जाता है, पंख वगैरह नहीं। अतएव शरीर शब्द का और दुवे शब्द का प्रयोग ही यहाँ मांसार्थ का बाधक है—साधक नहीं। शरीर शब्द का प्रयोग सार्थक किस प्रकार है, यह बात आगे दिखावेंगे ॥२५॥

प्रकृति परीक्षा, रोग की चिकित्सा का मूल है—

विद्वान् लोग पहले औषधि और रोग को प्रकृति की परीक्षा करते हैं। इनकी परीक्षा न करने से रोग घटने के बदले बढ़ जाता है ॥ २६ ॥

विद्वान् वैद्य सर्व प्रथम रोग की चिकित्सा करते हैं। रोग की प्रकृति क्या है, मौसिम कौन सा है, रोगी पुरुष का आचरण कैसा है, इसकी प्रकृति कैसी है इन बातों पर पहले विचार करके तथा किस प्रकृति वाली औषध का सेवन करने से आरोग्य बढ़ेगा यह सोच कर ही वैद्य औषध देते हैं। तभी रोग का नाश होता है प्रकृति की परीक्षा किये बिना ही यदि दवा दे दी जाय तो रोग का नाश होना दूर किनार रहा हानि की जगह उलटी वृद्धि ही होती है। यह एक सामान्य नियम है। महावीर स्वामी ने इसी नियम के अनुसार ही रोग के स्वभाव से विपरीत स्वभाव वाली औषधि लाने के लिए आज्ञा दी थी ॥ २६ ॥

ननु मांसमेव रोगप्रकृत्यनुकूलं किं न स्यादित्याह—

मांसस्योष्णस्वभावत्वात्तस्मात्पित्तप्रकोपनम् ।
वर्चसि लोहिताधिक्यं, तेन स्यान्न तदौषधम् ॥२७॥

मांसस्येति—शीतजन्यरोगाणामुष्णस्वभावौषधं रोगशमकं भवेन्न तु शीतस्वभावौषधम्। एवमुष्णताजन्यरोगाणां शीतस्वभावौषधं शान्तिजनकं न तूष्णस्वभावौषधम्। तत्तु प्रत्युत रोगवर्धकमेव भवेदिति प्राकृतजनोऽपि जानाति। वैद्यकशब्दसिन्ध्वाख्यकोषे ७०१ पृष्ठे मत्स्यशब्दप्रसंगे ७३९ पृष्ठे च मांसशब्दप्रसंगे मत्स्यमांसस्य साधारणमांसस्य च रक्तपित्तजनकत्वेनोष्णस्वभाववत्त्वं दर्शितम्। तथा चोष्णरोगाणां वर्धकमेव मांसं भवति न तु शमकमिति सिद्धम्। श्रीमन्महावीरस्वामिशरीरे पित्तज्वरलोहितपतनदाहानामुष्णव्याधिरूपत्वादुष्णस्वभावमांसेन तेषां वृद्धिः स्याद्वा हानिः स्यादिति निर्णेतुं शक्यत एव, तेनेति पित्तप्रकोपेन लोहिताधिक्येन च मांसमौषधं कथमपि भवितुं नार्हति। ततोऽस्मिन्रोगप्रसङ्गे कपोतादिशब्दानां मांसार्थकत्वकरणे प्रसङ्गासंगतिर्दोषः स्यादिति ॥२७॥

वृत्तिकारस्य श्रीमदभयदेवसूरेरत्र कोऽभिप्राय इति दर्श्यते—

इत्थं सत्सु प्रमाणेषु, मांसार्थबाधकेष्वपि ।
वृत्तिकारेण तत्पक्षः, किमर्थं नैव खण्डितः ॥२८॥

इत्थमिति:—इत्थममुना प्रकारेणोक्तप्रकारेणेत्यर्थः। **मांसार्थेति**-कपोतादिशब्दानां मांसार्थे तात्पर्यं नास्तीति मांसार्थनिषेधे बाधकप्रमाणानि दर्शितानि तेषु प्रमाणेषु विद्यमानेषु व्याख्याकार-

मांस, रोग की प्रकृति के अनुकूल क्यों नहीं है ?

मांस का स्वभाव उष्ण है। उससे पित्त का प्रकोप होता है, मल में रक्त गिरने की अधिकता होती है, अतएव मांस उस रोग की दवा नहीं हो सकता ॥ २७ ॥

शीत-जन्य रोगों की दवाई उष्ण स्वभाव वाली होती है, शीत स्वभाव वाली नहीं। इसी प्रकार गर्मी से जो रोग उत्पन्न हुआ हो उसके लिए शीत स्वभाव वाली औषधि शान्ति जनक हो सकती है, गर्म स्वभाव वाली नहीं। गर्म स्वभाव वालो दवा तो उल्टी रोग बढ़ाने वाली होती है। वैद्यक शब्द सिन्धु कोष पृ० ७०१ में मत्स्य शब्द में और पृष्ठ ७३९ में मांस शब्द के प्रसंग में मत्स्यमांस और साधारण मांस रक्त-पित्त जनक होने से उष्ण स्वभाव वाला बताया है इससे यह बात सिद्ध है कि मांस उष्ण रोगों का वर्धक है, नाशक नहीं। भगवान् महावीर स्वामी के शरीर में पित्तज्वर, रक्तपात और दाह ये सब उष्ण स्वभाव वाले रोग थे, ये उष्ण स्वभाव वाले मांस से घटते या उल्टे बढ़ते ? इसका निर्णय सहज ही हो सकता है। अतः पित्त के प्रकुपित होने तथा खून की अधिकता होने से मांस यहाँ किसी भी प्रकार औषध नहीं हो सकता। इस कारण इस रोग के प्रसंग में कपोत आदि शब्दों का मांस अर्थ करने में प्रकरणासंगति दोष आता है ॥ २० ॥

टीकाकार श्री अभयदेव सूरि का अभिप्रायः—

इस प्रकार मांसार्थ के बाधक प्रमाणों के मौजूद होने पर भी टीकाकार ने उस पक्ष का खण्डन क्यों नहीं किया ? ॥२८॥

कपोत आदि शब्द मांस अर्थ के वाचक नहीं हैं, इस प्रकार मांसार्थ के निषेध में जो प्रमाण पहले बताये हैं, उनके होने पर टीकाकार का यह आवश्यक कर्त्तव्य था कि वे दूषित पक्ष का प्रमाण पूर्वक खण्डन

स्यावश्यककर्त्तव्यमस्ति यद्बाधितपक्षो निराकरणीयः प्रमाणपुरस्स-रमागमविरुद्धपक्षः खण्डनीयः। अत्र कश्चिच्छङ्कते यद् वृत्ति-कारेण मांसार्थपक्षः कथं न खण्डितः ? 'श्रूयमाणमेवार्थं केचिन्मन्यन्त' इति वाक्येन केषांचिन्मांसार्थपक्षः किमर्थमुपन्यस्तः। यदि पूर्वपक्षरूपेणोपन्यस्तः स्यात्तदा तद्बाधनं स्वशब्देन किमर्थं न कृत-मिति प्रश्नकाराशयः ॥२८॥

द्वितीयपक्षोपन्यासः—

अन्ये त्वाहुरयं पक्षः, किमर्थं नैव मण्डितः।
योग्यायोग्यविमर्शेन. स्वाशयः किं न दर्शितः ॥२६॥

अन्य इतिः—कपोतकः पक्षिविशेषस्तद्वद् ये फले वर्णसा-धर्म्यात्ते कपोते कूष्माण्डे ह्रस्वे कपोते कपोतके ते च शरीरे वनस्पतिजीवदेहत्वात् कपोतकशरीरे, इत्यादिना वनस्पत्यर्थको द्वितीयपक्ष उपन्यस्तः सोऽप्यन्येषां न तु स्वस्य। यदि स पक्षोऽपि स्वाभिमतस्तर्हि किमर्थं तन्मण्डनं—स्थापनं न कृतं साधकबाधक-प्रमाणैस्तद्योग्यायोग्यत्वपर्यालोचनेन मांसार्थबाधने किमर्थं निजाशयो न प्रकटीकृतः ?॥२९॥

अस्याक्षेपस्य निबन्धलेखकः समाधानं करोति—

वच्म्यत्र वृत्तिकारेण, यद्यप्युक्तं न शब्दतः।
तथापि ज्ञायते तस्याशयः सूक्ष्मनिरीक्षणात् ॥३०॥

वच्मीतिः—अत्र विषयेऽहं किञ्चिद्ब्रवीमि-वृत्तिकारेण यद्यपि पूर्वपक्षे वोत्तरपक्षे स्वकीयशब्दैः किञ्चिन्नोक्तम् तथापि वृत्तिकारस्य

करते। अतएव यहाँ कोई शंका कर सकता है कि टीकाकार ने उस पक्ष का क्यों खण्डन नहीं किया? 'श्रूयमाणमेवार्थं केचिन्मन्यन्ते' (कोई कोई इस सुने जाने वाले अर्थ को मानते हैं) इस वाक्य से किसी का मत मांसार्थक है, ऐसा क्यों कहा? यहाँ प्रश्नकर्त्ता का आशय यह है कि यदि इस वाक्य से टीकाकार ने पूर्व पक्ष किया है तो अपनी ओर से उसका खण्डन क्यों नहीं किया? ॥ २८ ॥

दूसरा पक्षः—

दूसरे लोग कहते हैं कि इस (वनस्पति अर्थ) पक्ष का उन्होंने मंडन क्यों नहीं किया? योग्य-अयोग्य का विचार करके अभिप्राय क्यों नहीं प्रदर्शित किया? ॥ २९ ॥

कपोत अर्थात् कबूतर पक्षी, और उसके रंग के समान जिस फल का रंग हो वह कपोत फल अर्थात् कोला। क्योंकि कोला में वनस्पति कायिक जीव होता है अतः उसे कपोत-शरीर कहते हैं। इस प्रकार टीकाकार ने जो दूसरा पक्ष लिखा है वह भी दूसरों का मत बताया है—अपना नहीं। यदि टीकाकार को वह अर्थ स्वीकार था तो, साधक-बाधक प्रमाणों के द्वारा, योग्य अयोग्य का विचार करके मांसार्थ का खण्डन करने में अपना मत क्यों नहीं प्रगट किया है? तात्पर्य यह है कि टीकाकार ने दोनों अर्थ दिये हैं मगर वे दूसरों के मत के अनुसार दिये हैं। अपनी ओर से कुछ भी अर्थ नहीं लिखा। इसका क्या कारण है? ॥ २९ ॥

निबंध-लेखक का समाधानः—

इस विषय में मैं कहता हूँ—यद्यपि टीकाकार ने स्पष्ट शब्दों में कुछ नहीं कहा है तो भी सूक्ष्म निरीक्षण करने से उनका आशय मालूम हो जाता है॥ ३० ॥

इस विषय में मैं कुछ कहता हूँ—यद्यपि टीकाकार ने पूर्व पक्ष या उत्तर पक्ष के विषय में अपने शब्दों में कुछ नहीं कहा है, तथापि पूर्वापर का

कोऽभिप्रायो विद्यते, स तु पूर्वापरपर्यालोचनेन ज्ञातुं शक्यते। पूर्वपक्षस्य कियानादरः कृतः? उत्तरपक्षस्य च तावानेवादरो वाऽधिकादरः?। पूर्वपक्षस्य कियदालोचनपूर्वकार्थावधारणं दर्शितमुत्तरपक्षस्य च कियदिति सूक्ष्मरीत्या पर्यालोचने कृते त्ववश्यमेव तदाशयपरिज्ञानं स्यादेवेति ॥२०॥

पूर्वोत्तरपक्षयोः किं न्यूनाधिक्यं तद्दर्शयति—

निर्हेतुकश्च संक्षिप्तः पूर्वपक्षो न चादृतः।
द्वितीयो विस्तृतः स्पष्टमुत्तरपक्षलक्षणः ॥२१॥

निर्हेतुक इतिः—श्रूयमाणमेवार्थं केचिन्मन्यन्ते इत्येकवाक्यमात्रेणैव पूर्वपक्ष उपन्यस्तः। नात्र कश्चिद्धेतुर्दर्शितः। न वा साधकबाधकप्रमाणानि। न वा परामर्शः। संक्षेपेणैव तन्मतोपदर्शनं कृतम्। श्रूयमाणमेवार्थं मन्यन्ते इति वाक्यमपि तत्पक्षस्य पर्यालोचनशून्यत्वं दर्शयति। कुतः? सर्वत्र शब्द एव श्रूयमाणो भवति नत्वर्थः। शब्दश्रवणानन्तरमीहा—पर्यालोचना भवति ततोऽवायोऽर्थावधारणं भवतीति मतिज्ञानस्यायं सामान्यनियमः। अत्र त्वर्थस्य श्रूयमाणत्वमुक्तं तत्कथं घटते। शब्दार्थयोः कथञ्चिदभेदाश्रयत्वेन शब्दवदर्थस्य श्रूयमाणत्वे स्वीकृते तत्रेहा—पर्यालोचना व्यापारो न प्रतीयेत। तथा चात्र मांसार्थो घटते वा न घटते शास्त्रान्तरे तद्बाधकप्रमाणानां सद्भावेन बाध्यतेऽत्र मांसार्थो नवेति पर्यालोचनाविरहेण न यथार्थावायस्तत्र संभवति। शब्दवदर्थः

विचार करने से यह विदित हो जाता है कि टीकाकार का क्या विचार है? उन्होंने पूर्व पक्ष (मांसार्थ पक्ष) को कितना स्वीकार किया है? और उत्तर पक्ष (वनस्पति-अर्थ) को उतना ही या उससे अधिक स्वीकार किया है? कितनी आलोचना करके पूर्व पक्ष के अर्थ का निश्चय किया है और उत्तर पक्ष के विषय में कितनी आलोचना की है? इस प्रकार सूक्ष्म रीति से विचार करने पर उनका आशय जरूर मालूम हो जाता है। ॥ ३० ॥

पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष की न्यूनाधिकताः—

पूर्व पक्ष को संक्षेप में कहा है और कोई हेतु नहीं दिया, अतः पूर्व पक्ष को उन्होंने स्वीकार नहीं किया किन्तु उत्तर पक्ष विस्तार से और स्पष्ट रूप से बताया है ॥ ३० ॥

'श्रूयमाणमेवार्थं केचिन्मन्यन्ते' (सुने जाने वाले अर्थ को ही कोई मानते हैं) इस एक वाक्य के द्वारा ही पूर्व पक्ष का निर्देश कर दिया है। इसमें कोई भी हेतु नहीं दिखाया और न साधक-बाधक प्रमाण ही दिये हैं। इसका कुछ परामर्श भी नहीं किया। बहुत संक्षेप में ही यह मत दिखा दिया है। 'श्रूयमाणमेवार्थं मन्यन्ते' यह वाक्य भी उस पक्ष की विचार शून्यता का दिग्दर्शन कराता है; क्योंकि अर्थ कहीं सुना नहीं जाता—शब्द ही सर्वत्र सुना जाता है।'''शब्द सुनने के बाद ईहा—पर्यालोचना (विचार) होता है। ईहा के अनन्तर अवाय होता है और तब अर्थ का निश्चय होता है। मतिज्ञान का यह सामान्य नियम है। मगर यहाँ अर्थ का सुना जाना कहा है सो यह कैसे ठीक हो सकता है? शब्द और अर्थ सर्वथा भिन्न नहीं हैं—कथंचित् अभिन्न हैं अतः यहाँ अभेद की अपेक्षा से अर्थ का सुना जाना कहा है। यदि ऐसा मान लिया जाय तो उसमें ईहा नहीं होनी चाहिए। ऐसी हालत में 'मांसार्थ युक्त है या नहीं, दूसरे शास्त्रों में मांसार्थ के बाधक प्रमाण का सद्भाव है अतः यहाँ

श्रुतः । न पर्यालोचनपूर्वकमवधारित इति तात्पर्यं प्रकृतवाक्यस्यास्तीति पूर्वपक्षे वृत्तिकारस्य न सम्यगादरः प्रतीयते । किं च कः श्रूयमाणोऽर्थ इत्यपि स्पष्टं नोक्तम् । अथ द्वितीयपक्षस्तु विस्तरेण स्पष्टमुक्तः स चोत्तरपक्षरूपेणोपन्यस्तः । तत्र पूर्वपक्षस्य खण्डनसत्त्वेनोत्तरपक्षलक्षणविशिष्टत्वम् ॥३१॥

उभयपक्षयोर्द्वितीयस्य प्राधान्य दर्शयति—

शैल्यैतया द्वितीयस्य प्राधान्यं स्वीकृतं स्वयम् ।
प्रथमस्य च गौणत्वं, स्थापितं व्यंग्यहेतुतः ॥३२॥

शैल्येति—एतयोपरिदर्शितया शैल्या पूर्वपक्षत्वोत्तरपक्षत्वसंक्षिप्तत्व विस्तृतत्वनिरादरत्वसादरत्वनिर्हेतुकत्वसहेतुकत्वप्रतिपादनगर्भितरच नात्मकया रीत्या । द्वितीयस्य वनस्पत्यर्थं स्वीकुर्वतो द्वितीयपक्षस्य वृत्तिकारेण स्वयं प्राधान्यं स्वीकृतम् । मांसार्थे तात्पर्यग्राहकस्य प्रथमपक्षस्य च गौणत्वं स्थापितम् । कुत इत्याह व्यंग्यहेतुतः पञ्चम्यन्तशब्दात्मकहेत्वदर्शनेऽपि स्वमनोभावगतहेतोरित्यर्थः । यदि वृत्तिकारस्याशयः प्रथमपक्षस्वीकारे स्यात्तदा स द्वितीयपक्षवत्प्रथम पक्षमपि विस्तरेण हेतुपूर्वकं स्पष्टं स्थापयेत् । तथा नोपदर्शितम् । तेन च तस्याशयः स्पष्टं ज्ञातुं शक्यते धीमद्भिरित्यलं विस्तरेण ॥३२॥

वृत्तिकारस्य स्पष्टाशयः—

किञ्च स्थानाङ्गटीकायामनेनैव निजाशयः ।
फलार्थे दर्शितः स्पष्टं नात्रातः पुनरीरितः ॥३३॥

मांसार्थ होना चाहिए या नहीं, इस प्रकार की पर्यालोचना के बिना यथार्थ अवाय ज्ञान भी नहीं हो सकता। शब्द के समान अर्थ सुना, किन्तु उसका विचार पूर्वक निश्चय नहीं किया, पूर्व पक्ष का ऐसा आशय निकलता है। इससे प्रतीत होता है कि टीकाकार ने पूर्व पक्ष का आदर नहीं किया। सुना जाने वाला वह अर्थ कौनसा है, यह भी साफ़-साफ़ नहीं बताया है। किन्तु दूसरे पक्ष को विस्तार से स्पष्ट कहा है और वह उत्तर पक्ष के रूप में लिखा है। अतः वहाँ पूर्व पक्ष का खण्डन होने से उत्तर पक्ष की ही विशिष्टता सिद्ध होती है ॥३१॥

दोनों पक्षों में से दूसरे पक्ष की प्रधानता:—

टीकाकार ने इस शैलीसे स्वयं ही दूसरे पक्ष की प्रधानता स्वीकार की है और व्यंग रूपसे प्रथम पक्षकी गौणता स्थापितकी है ॥३२॥

पूर्व पक्ष को संक्षिप्त और उत्तर पक्ष को विस्तृत कहने, पूर्व पक्ष में निरादर करने और उत्तर पक्ष का आदर करने, पूर्व पक्ष को विना किसी हेतु के कहने और उत्तर पक्ष को सहेतुक कहने रूप शैली से, वनस्पति-अर्थ को मानने वाले उत्तर पक्ष की प्रधानता स्वीकार की है और मांसार्थ मानने वाले प्रथम पक्ष की गौणता सिद्ध की है। वह गौणता यद्यपि पंचमी विभक्ति रूप शाब्दिक कथन करके नहीं किन्तु अपने मनोभाव रूप हेतु से सिद्ध की है। यदि टीकाकार का आशय प्रथम पक्ष को स्वीकार करने का होता तो वह द्वितीय पक्ष की भाँति प्रथम पक्ष को भी विस्तार से और साथ ही हेतु के साथ स्पष्ट रूप से स्थापित करते। मगर उन्होंने ऐसा नहीं दिखलाया है, इस कारण टीकाकार का आशय विद्वान् लोग स्वयं ही समझ सकते हैं। बस, इतना कहना ही पर्याप्त है ॥३२॥

टीकाकार का स्पष्ट आशय

और भी इन्हीं टीकाकार (श्री अभयदेव सूरि) ने स्थानाङ्ग-सूत्र की टीका में अपना आशय फलाहार में स्पष्ट बताया है। इसी कारण भगवती की टीका में वही बात दोहराई नहीं है ॥३३॥

किञ्चेति—न केवलं वृत्तिकारस्याशयोऽनुमानगम्योऽपि तु स्थलान्तरे स्पष्टोल्लिखितोऽपि वर्तते। स्थानाङ्गेति—स्थानाङ्गाभिधतृतीयाङ्गसूत्रस्य नवमे स्थाने टीकायां-वृत्तौ अनेनैवेति-भगवतीसूत्रवृत्तिकारेणैव श्रीमदभयदेवसूरिणा। स्पष्टं स्पष्टतया। फलार्थ इति-कुक्कुटमांसादिशब्दानां फलार्थवाचकत्वं न तु मांसार्थवाचकत्वमिति। निजाशयः—स्वाभिप्रायः दर्शितः व्यक्तीकृतः। तथाहि—

ततो गच्छ त्वं नगरमध्ये, तत्र रेवत्यभिधानया गृहपतिपत्न्या मदर्थं द्वे कूष्माण्डफलशरीरे उपस्कृते, न च ताभ्यां प्रयोजनं, तथाऽन्यदस्ति तद्गृहे परिवासितं मार्जाराभिधानस्य वायोर्निवृत्तिकारकं कुक्कुटमांसकं बीजपूरक—कटाहमित्यर्थः, तदाहर, तेन नः प्रयोजनमिति—स्थानाङ्गसूत्रे नवमस्थाने सू० ६९१, पृ० ४५६-४५७"

अतः—अस्मात्कारणात्। अत्र-भगवती-टीकायाम्। पुनः-भूयः। नेरितः—न प्रतिपादितः। स्थानाङ्गटीकाया पूर्वनिर्मितत्वात्तत्र स्पष्टतया निवेदितत्वान्नात्र पुनरुक्तम्। तत एवात्रानुसन्धेयमिति तदाशयः

अथोक्तशब्दानां वनस्पत्यर्थः साध्यते—

एतेषामथ शब्दानां, वाचकत्वे वनस्पतेः।
प्रमाणानि प्रदर्श्यन्ते, स्वपरशास्त्रयोः स्फुटम् ॥२४॥

एतेषामितिः—अथशब्द आनन्तर्यार्थकः। मांसार्थनिरूपकाद्यपक्षखंडनानन्तरं प्रकृतशब्दानां वनस्पत्यर्थकत्वं साध्यते।

टीकाकार का आशय केवल अनुमान गम्य ही नहीं किन्तु स्थलान्तर में स्पष्ट उल्लिखित भी है अर्थात् स्थानाङ्ग नामक तृतीय अङ्ग सूत्र के नवम स्थान की टीका में भगवती टीकाकार अभयदेव सूरि ने ही कुक्कुटमांसादि शब्द फलार्थवाचक हैं, मांसार्थ वाचक नहीं हैं ऐसा अपना आशय स्पष्ट प्रगट किया है। जैसे कि "तू नगर में जा और रेवती नामक गृहपत्नी ने मेरे लिए जो दो कूष्माण्ड (कोला) के फल संस्कार करके तैयार किए हैं—उससे प्रयोजन नहीं है किन्तु उसके घर में दूसरा मार्जार नाम का वायु की निवृत्ति करने वाला कुक्कुट मांसक अर्थात् बिजौरा—फल का गर्भ है वह ले आ; उससे हमारा प्रयोजन है।

(स्थानाङ्गसूत्र—नवम स्थान सू० ६९१, ५० ४५६ ४५७) इस कारण से टीकाकार ने भगवती की टीका में फिर यही बात नहीं बतलाई। क्योंकि स्थानाङ्ग सूत्र की टीका पहले बनाई गई है और वहाँ पर यही बात स्पष्ट बतलाई गई है अतः यहाँ पर पुनरुक्ति करने में आई नहीं इस कारण वहाँ से अनुसन्धान करने का टीकाकार का आशय है॥ ३३॥

उक्त शब्दों के वनस्पति अर्थ की सिद्धिः—

अथ इन शब्दों की वनस्पति अर्थ की वाचकता में स्व-पर शास्त्रों के स्पष्ट प्रमाण दिखलाये जाते हैं॥ ३४॥

अथ शब्द का अर्थ है—इसके अनन्तर। अर्थात् मांसार्थ पक्ष का खण्डन करने के अनन्तर प्रकृत शब्द वनस्पति-अर्थ के वाचक हैं, यह बात सिद्ध की जाती है। इन शब्दों का वनस्पति अर्थ वैद्यक के सुश्रुत आदि ग्रन्थों में तथा वैद्यक कोष में प्रसिद्ध है। जैन सूत्रों में भी कहीं-कहीं यह अर्थ पाया जाता है। अतः पूर्व पक्ष के हिमायतियों के लिए प्रज्ञा-

एतेषां शब्दानां तत्तद्वनस्पतिवाचकत्वं वैद्यकपुस्तके सुश्रुतादौ वैद्यककोषे च प्रसिद्धमस्ति। तथा जैनसूत्रेऽपि क्वचित्तथास्ति। ततः पूर्वपक्षिणं प्रति स्वशास्त्रस्य प्रज्ञापनादेः परशास्त्रस्य सुश्रुतादेश्च प्रमाणानि प्रमितिजनकवाक्यान्युद्धृत्य प्रदर्श्यन्त इत्यर्थः ॥३४॥

प्रथमं कपोतशब्दार्थो निरूप्यते—

पारावतः कपोतश्चामरे पर्यायतः स्थितौ।
पारावतस्तरुः सिद्धः, कपोतोऽपि तथा भवेत् ॥३५॥

पारावत इतिः—'दुवे कवोयसरीरा' इति प्रथमवाक्ये 'कवोय' (प्राकृते)–कपोत (संस्कृते) शब्दः प्रयुक्तः। कपोतश्च पारावतशब्दस्य पर्यायतयामरकोषे द्वितीयकाण्डे निगदितः। तथाहि "पारावतः कलरवः कपोतोऽथ शशादनः।" (पङ्क्ति० १०१६) पर्यायत्वाद्योऽर्थः पारावतशब्दस्य स एवार्थः कपोतशब्दस्याऽपि भवितुमर्हति। अथ पारावतशब्दस्य तु पक्षिवाचकत्वं प्रसिद्धमिति चेद् वृक्षवाचकत्वस्यापि प्रसिद्धत्वात्। तथा हि सुश्रुतसंहितायां ३३८ पृष्ठे–फलवृक्षप्रकरणे–"पारावतं समधुरं रुच्यमत्यग्निवातनुत्" पारावतवृक्षस्य सुश्रुतेऽनेकस्थलेषूल्लेखात्तस्य वृक्षत्वं सिद्धमेव। तत एव कपोतस्यापि पारावतपर्यायत्वाद् वृक्षत्वं सिद्धमिति ॥३५॥

कपोतशब्दस्य द्वितीयार्थः—

शब्दसिन्धौ कपोतेन, पारीशोऽभिहितस्तरुः।
पारीशेन पुनस्तत्र, प्लक्षवृक्षो निरूपितः ॥ ३६ ॥

शब्दसिन्धौ–वैद्यकशब्दसिन्ध्वाख्यकोषे १९३ पृष्ठेकपोतेन–

पना आदि स्वकीय शास्त्रों के तथा सुश्रुत आदि पर शास्त्रों के प्रमितिजनक वाक्य—प्रमाण-उद्धृत करके दिखलाये जाते हैं ॥ २४ ॥

कपोत अर्थ का निरूपण—

अमर कोप में 'कपोत' और 'पारावत' शब्द पर्याय वाची हैं और पारावत नाम का एक वृक्ष होता है अतः कपोत का भी वह अर्थ—वृक्षार्थ—होना चाहिए ॥ ३५ ॥

'दुवे कवोयसरीरा' इस प्रथम वाक्य में कवोय (प्राकृत)—कपोत (संस्कृत) शब्द प्रयुक्त हुआ है और कपोत शब्द 'पारावत' शब्द का पर्याय वाची है, यह बात अमर कोप के द्वितीय काण्ड में कही है। कहा भी है—

"पारावत, कलरव और कपोत, ये कबूतर के (पंक्ति १०१६) पर्याय-वाची शब्द हैं।" जब दोनों शब्द पर्यायवाची हैं तो पारावत शब्द का जो अर्थ है वह कपोत शब्द का भी होना चाहिए। यदि कोई कहे कि पारावत शब्द तो पक्षी (कबूतर) का वाचक प्रसिद्ध है तो यह भी कह सकते हैं कि पारावत शब्द वृक्ष का भी वाचक है: सुश्रुत संहिता पृष्ठ ३३८, फल प्रकरण में कहा है—पारावत, मधुर, रुचिकारक तथा अग्नि-वर्धक और वात को दूर करता है।'

सुश्रुत में पारावत वृक्ष का कई जगह उल्लेख है अतः पारावत वृक्ष सिद्ध है। अतएव कपोत शब्द का अर्थ वृक्ष होता है, यह बात भी सिद्ध हो गई क्योंकि यह दोनों शब्द पर्यायवाचक हैं ॥ ३५ ॥

कपोत शब्द का दूसरा अर्थ—

वैद्यक शब्दसिन्धु कोप में कपोत शब्द से पारीश नामक वृक्ष कहा गया है और वहीं पारीश शब्द से प्लक्ष वृक्ष का अर्थ लिया गया है ॥ ३६ ॥

वैद्यक-शब्दसिन्धु नामक कोप पृ० १९२ पर कपोत शब्द से पारीश नामक पेड़ का अर्थ किया गया है और इसी ग्रंथ के पृ० ६०१ पर पारीश

कपोतशब्देन पारीशः पारीशनामकस्तरुः वृक्षोऽभिहित उक्त इत्यर्थः। पुनश्च तत्रैव पुस्तके ६०१ पृष्ठे पारीशेन पारीशशब्देन प्लक्षवृक्षो निरूपितः कथित इत्यर्थः। वनौषधिदर्पणाख्यपुस्तके ४४७ पृष्ठे पश्यतामिदं प्लक्षवर्णनम्—

"प्लक्षः—Ficus infectoria,

A large deciduous tree. Astringent and cool,

प्लक्षः कषायः शिशिरो, व्रणयोनिगदापहः।

दाहपित्तकफाम्नः, शोथहा रक्तपित्तहृत्॥"

तथा च कपोतशब्दवाच्यप्लक्षवृक्षस्य दाहपित्तनाशकत्वेन संभवत्यत्र तदुपयोगः। शरीरशब्दस्य तूभयत्र वृक्षात्मकशरीरैकावयवे फले लक्षणाकरणेन भवति निर्वाहः॥ ३६॥

कपोतस्य पाठान्तरत्वेन तृतीयोऽर्थः—

यद्वा प्रागत्र कावोई, कवोयश्रुतिमागतः।
ह्रस्वत्वं च यकारश्च, स्थानसाम्यात्प्रमादतः॥ ३७॥

यद्वेति—अथवा शरीरशब्दस्य शक्तिमात्रेण निर्वाहः स्याद्ेतादृशं यदि प्रकारान्तरं संभवति तदा तद्दर्शनीयमित्यतः प्रकारान्तरदर्शनोपक्रमः। अत्र अस्मिन्प्रकरणे प्राक्— सूत्राणां पुस्तकारोहणात्पूर्वं श्रुत्यनुश्रुतिप्रवाह आसीत्। गुरुः शिष्यमश्रावयत्स पुनस्तच्छिष्यमिति कर्णोपकर्णश्रवणपरंपरायां देशविशेषेणोच्चारणभेदः, श्रुतिभेदश्च संभवत्येव, वर्तमानेऽपि तथा दृश्यते। तथा चात्र श्रुत्यनुश्रुतिसमये कावोई—कावोईत्याकारकशब्दः कवोयशब्द-

शब्द का प्लक्ष (पाकर) नामक वृक्ष अर्थ कहा है। वनौषधिदर्पण नामक पुस्तक के पृष्ठ ४४० पर प्लक्ष का वर्णन इस प्रकार दिया है—

प्लक्षः—Ficus infectoria

A large deciduous tree. Astringent and cool.

प्लक्ष कसैला, शीतल, व्रण और योनि के रोगों का नाशक, दाह, पित्त तथा कफ का मिटाने वाला, शोथ रोग और रक्तपित्त का नाशक है।

इस प्रकार कपोत शब्द का वाच्य प्लक्ष वृक्ष दाह और पित्त का नाशक है अतएव सम्भव है उसका उपयोग किया गया हो। रहा शरीर शब्द, सो फल, वृक्ष रूप शरीर का एक अवयव होता है और लक्षणा वृत्ति से उसका अर्थ ठीक बैठ जाता है ॥३६॥

पाठान्तर से कपोत का तीसरा अर्थ—

अथवा इस पाठ में पहले कावोई शब्द होगा जो 'कवोय' ऐसा सुना गया होगा। ह्रस्व 'क' और 'ई' की जगह 'य' प्रमाद से हो गया होगा, क्योंकि इनके उच्चारण स्थान एक ही हैं ॥ ३७ ॥

शरीर शब्द का प्रयोग शक्ति से ही युक्त हो जाए, ऐसा कोई प्रकार यदि हो सकता है तो बताइए? ऐसी आशंका होने पर दूसरा प्रकार दिखाते हैं। पुस्तक रूप में लिपिबद्ध होने से पहले सूत्रों में श्रुति-अनुश्रुति की परम्परा थी। गुरु अपने शिष्य को सूत्र सुनाता था और वह शिष्य फिर अपने शिष्य को सुनाता था। इस प्रकार कानों कान सुनने की परम्परा होने पर देश के भेद से उच्चारण में और श्रुति में भेद होना सम्भव है। वर्त्तमान काल में भी यह बात देखी जाती है। अतः श्रुति अनुश्रुति की परम्परा के समय 'कावोई' शब्द 'कवोय' ऐसा सुना गया। शास्त्रों के लिखने की प्रणाली महावीर स्वामी के निर्वाण से ९८० वर्ष व्यतीत हो जाने पर आरंभ हुई थी। इससे पहले और उसके पश्चात्

त्वेन श्रुतिमागतः—श्रवणपथं प्राप्तः। लेखनप्रवृत्तिस्तु महावीरस्वामिनिर्वाणसमयादशीत्यधिकनवशतवर्षेषु व्यतीतेषु जाता। ततः पूर्वं पश्चादपि चानेके शब्दाः पाठान्तरतां गता दृश्यन्ते तद्वदयमपि कावोईशब्दः कवोयत्वेन परिणतः स्यादित्यत्र नास्त्याश्चर्यम्। कथमित्याह स्थानसाम्याद्—ईकारस्य यकारस्य च तालुस्थानवत्त्वेन आकारस्याकारस्य च कण्ठस्थानवत्त्वेन साम्यादाकारस्याकारत्वेन, ईकारस्य च यकारत्वेन श्रुतिसंभवः अथवा लेखकानां प्रमादतस्तत्परिवर्तनसंभवः। तथा च 'दुवे कावोईसरीराओ' इति मूलपाठे मन्यमाने शरीरशब्दस्य न लक्षणाश्रयप्रसङ्गः शक्त्यैव निर्वाहसम्भवात्॥ ३७॥

कावोई शब्दस्य स्पष्टार्थःकथ्यते—

कापोती द्विविधा श्वेता-कृष्णा चोक्ता वनस्पतौ।
लक्षणोत्पत्तिभेदाश्च, तस्यास्तत्र निरूपिताः॥३८॥

कापोतीति—सुश्रुतसंहितायां कापोतीशब्दस्य प्राचीनकालप्रसिद्धवनस्पत्यर्थकत्वप्रसिद्धम्। तदुपयोगस्तदुत्पत्तिस्थानं तल्लक्षणानि च तत्र विस्तरेणोक्तानि। तथाहि ८२१ पृष्ठे—"श्वेतकापोती समूलपत्रा भक्षयितव्या गोनस्यजगरी कृष्णकापोतीनां सनखमुष्टिम् खण्डशः कल्पयित्वा क्षीरेण विपाच्य परिस्रावितमभिहुतञ्च सकृदेवोपभुञ्जीतम्"। तत्रैव ८२२ पृष्ठे श्वेतकापोतीलक्षणम्—

"निष्पत्रा कनकाभासा, मूले द्व्यंगुलसंमिता।
सर्पाकारा लोहितान्ता, श्वेतकापोतिरुच्यते॥"

भी अनेक शब्दों में पाठान्तर हो गया देखा जाता है। इसी प्रकार 'काओई' शब्द यदि 'कवोय' बन गया हो तो इसमें कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं है!

मगर ऐसा हुआ क्यों? इसका समाधान यह है कि उच्चारण-स्थानों की समानता है। ई और य, ये दोनों वर्ण तालु स्थान से बोले जाते हैं, तथा आ और अ ये दोनों स्वर कंठ से बोले जाते हैं। इस प्रकार समानता होने से सम्भव है ई की जगह य सुना गया हो और आ की जगह अ सुना गया हो। अथवा यह भी सम्भव है कि लेखकों की असावधानी से यह परिवर्तन हो गया हो। ऐसी अवस्था में 'दुवे कयोई सरीराओ' ऐसा मूल पाठ मान लिया जाय तो शरीर शब्द का अर्थ घटाने के लिए लक्षणा का आश्रय नहीं करना पड़ेगा, शक्ति से ही अर्थ घट जायगा ॥ ३७ ॥

कावोई शब्द का स्पष्ट अर्थ—

काली और सफ़ेद दो प्रकार की कापोती, वनस्पति अर्थ में कही गई है। उसके लक्षण, उत्पत्ति, और भेद भी वहाँ निरूपण किये गये हैं ॥३८॥

सुश्रुतसंहिता से यह बात सिद्ध है कि कापोती शब्द का प्राचीनकाल से वनस्पति अर्थ होता है। उक्त ग्रन्थ में उसका उपयोग, उत्पत्ति स्थान और लक्षण विस्तार के साथ बताये गये हैं। देखिए—

श्वेतकापोती समूलपत्रा भक्षयितव्या गोनस्यजगरी कृष्णकापोतीनां सनखमुष्टिं खण्डशः कल्पयित्वा क्षीरेण विपाच्य परिपरिस्रावितमभहुतञ्च सकृदेवोपभुञ्जीतम् ॥" (पृज ८२१)

सफ़ेद कापोती का लक्षण—

बिना पत्ते की, कनक के समान, मूल में दो अंगुल प्रमाण, सांप जैसे आकार की, अन्त में लोहित वर्ण की, सफ़ेद कापोती कहलाती है।

कृष्णकापोतीलक्षणम्—

"सक्षीरां रोमशां मृद्वीं, रसेनेक्षुरसोपमाम्।
एवं रूपरसाञ्चापि, कृष्णकापोतिमादिशेत्॥"

८२४-८२५ पृष्ठे तदुत्पत्तिस्थानम्—

"कौशिकीं सरितं तीर्त्वा, सञ्जयन्त्यास्तु पूर्वतः।
क्षितिप्रदेशो वल्मीकैः राचितो योजनत्रयम्।
विज्ञेया तत्र कापोती श्वेता वल्मीकमूर्धसु॥

कापोतीशब्दः श्वेतकापोतीकृष्णकापोतीसाधारणो वर्तते। सामान्यशब्देनोभयमपि ग्रहीतुं शक्यते॥ ३८॥

शरीरशब्दस्य किं प्रयोजनमित्याह—

**शरीरव्यवहारस्तु वृक्षादावपि विद्यते।
तस्याप्यौदारिकाद्यंगत्रयमुक्तं जिनेश्वरैः॥ ३९॥**

शरीरव्यवहार इति—ननु 'दुवे कावोइओ उवक्खडियाओ' इत्येवास्तु किं शरीरशब्देनेति चेन्न 'सरीर' इति पाठदर्शनादस्त्येव तस्योपयोगः शरीरशब्दसाहचर्यादेव 'कावोई' इति शब्दस्य वनस्पत्यर्थकत्वं विशेषतः सिद्ध्यति, कुतः? कापोतीवनस्पतेर्मूलपत्रसहिताया एवोपयोगो दर्शितः सुश्रुते। समग्रस्योपयोगादेवात्र शरीरशब्दः प्रयुक्तः। पक्षिवाचकत्वे तु तदसंगतिः पूर्वं दर्शितैव। वनस्पति शरीरे तु द्वित्वमपि संभवतीति सर्वं संगतम्। ननु वनस्पतेः शरीरत्वाभिधाने किं शास्त्रीयं प्रमाणमिति चेदस्त्येव। सूत्रे जिनेश्वरैर्वनस्पतिमात्रस्यौदारिकादिशरीरत्रयमस्तीत्युक्तत्वात्।

काली कापोती का लक्षण—

दूधवाली, रोमवाली, कोमल गन्ने के रस के समान रस वाली, कृष्ण कापोती कहलाती है।

कापोती के उत्पत्तिस्थान—

कोशिकी नदी को पार करके, सञ्जयन्ती से पूर्व में, बांबियों से व्यास ३ योजन भूप्रदेश है। वहां बांबियों के ऊपर सफ़ेद कापोती होती है।

कापोती शब्द सामान्य रूपसे सफ़ेद और काली दोनोंके लिए प्रयुक्त होता है, क्योंकि सामान्य शब्द से दोनों का ग्रहण हो सकता है ॥३८॥

शरीर शब्द का प्रयोजन—

शरीर शब्दका प्रयोग वृक्ष वगैरहमें भी होता है,क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् ने उसके भी औदारिक आदि तीन अंग कहे हैं ॥३९॥

शंका—'दुवे कावोईओ उवक्खडियाओ' ऐसा पाठ ही हो, शरीर शब्द की क्या आवश्यकता है?

समाधान—ऐसा न कहिए। 'शरीर' यह पाठ जो देखा जाता है सो इसकी आवश्यकता है ही। 'शरीर' शब्द साथ रहने से ही विशेषतया वनस्पति अर्थ में 'कावोई' शब्द की सिद्धि होती है।

शंका—कैसे?

समाधान—मूल (जड़) और पत्तों के साथ ही कापोती वनस्पति को सुश्रुत में उपयोगी बताया है। सारी कापोती का उपयोग होने के कारण ही यहाँ शरीर शब्द का प्रयोग किया है। यदि 'कापोती' शब्द को पक्षी का वाचक माना जाय वह असंगत होगा, यह बात पहले ही बता चुके हैं। वनस्पति के शरीर में 'दो' का व्यवहार भी हो सकता है। इस प्रकार यह सब अर्थ संगत बैठता है।

शंका—वनस्पति का शरीर होता है, ऐसा कहने में क्या शास्त्र का प्रमाण है?

तथा च वृक्षादौ शरीरशब्दव्यवहारो नानुपपन्नः । वैद्यकशास्त्रेऽपि वनस्पतेः पत्रपुष्पफलादीनामङ्गत्वप्रतिपादनात्कापोतीशब्देन शरीरशब्दसमासः सार्थकः । द्विशब्दप्रयोगोऽपि संगत इति ॥३९॥

ननु कूष्माण्डफलस्यैव पित्तघ्नत्वेन विशेषतः प्रसिद्धत्वात्तदर्थः किमत्र न संभवतीत्यत आह—

वस्तुतस्त्वत्र कूष्माण्डमर्थः सम्यक् प्रतीयते ।
यथाश्रुतस्य शब्दस्या-सवाक्याच्छक्यताग्रहात् ॥४०॥

वस्तुत इतिः—पारावतप्लक्षकापोतीनां पित्तघ्नत्वे दाहघ्नत्वे च सिद्धेऽपि जयपुरस्थलक्ष्मीरामप्रभृतीनां वैद्यानामभिप्रायेणास्मिन् रोगे कूष्माण्डफलस्याधिकोपयोगित्वं प्रतिभाति । ततो बलवन्निश्चितप्रकारान्तरमुच्यते । वस्तुतस्त्विति—तु शब्दो विशेषार्थकः, पूर्वेभ्योऽयं पक्षः विशिष्टतर इत्यर्थः । अत्र अस्मिन्प्रकरणे, यथाश्रुतस्य वर्तमानपुस्तकेषु यथा दृश्यते श्रूयते वा 'दुवे कवोयसरीरा' एतद्वाक्यस्थस्य 'कवोयशरीर' (कपोतशरीर) शब्दस्य कूष्माण्डं—कूष्माण्डफलमित्यर्थः । सम्यक्—निर्दोषत्वादुपयोगित्वाच्च सुष्ठु प्रतीयते—विज्ञायते । ननु कपोतशरीरशब्दस्य कूष्माण्डमित्यर्थो न क्वापि कोषे प्रसिद्ध इति कथं तस्मात्तदर्थप्रतीतिरिति चेत्, कोषं विनाऽपि व्याकरणाप्तवाक्यादितः शक्तिग्रहस्य न्यायशास्त्रप्रसिद्धत्वात्, तदुक्तं सिद्धान्तमुक्तावल्याम्—(कारिकावल्याम्) ८३ पृष्ठे—

"शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान-कोषाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सांनिध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥"

समाधान—हाँ है। जिनेन्द्र भगवान् ने सूत्र में कहा है कि वन-स्पति मात्र को औदारिक तैजस कार्मण यह तीन अंग होते हैं। अतएव वृक्ष आदि में. शरीर शब्द का प्रयोग करना अनुचित नहीं है। वैद्यक शास्त्र में भी वनस्पति के पत्र पुष्प फल आदि को अंग कहा है, अतएव कापोती शब्द के साथ शरीर शब्द का समास सार्थक है और 'ई' शब्द का प्रयोग भी युक्तियुक्त है ॥२९॥

कूष्माण्ड फल ही पित्त का नाशक विशेष रूप से प्रसिद्ध है, अतः यहां उसी का अर्थ क्यों न लिया जाय? सो कहते हैं—

वास्तव में तो यहाँ जैसा शब्द इस समय सुना जाता है, उसका आप्त-वाक्य से तथा शक्ति-ग्रह से कूष्माण्ड अर्थ ही ठीक प्रतीत होता है ॥३०॥

यद्यपि पारावत, प्लक्ष और कापोती, पित्त और दाह के नाशक हैं, फिर भी जयपुर निवासी श्रीलक्ष्मीरामजी आदि वैद्यों की सम्मति के अनु-सार इस रोग में कूष्माण्ड फल ही अधिक उपयोगी प्रतीत होता है। अतः निश्चित रूप से बल-पूर्वक कहते हैं कि—इस प्रकरण में, वर्तमान-कालीन पुस्तकों में 'दुवे कवोय सरीराओ' ऐसा जो देखा और सुना जाता है, सो इस वाक्य में आये हुए 'कवोयसरीर' (कपोत) शब्द का कूष्मा-ण्ड (कोला) अर्थ ही वास्तविक ज्ञात होता है।

शंका—'कपोत शरीर' शब्द का कूष्माण्ड अर्थ किसी भी कोष में प्रसिद्ध नहीं है, ऐसी हालत में यह अर्थ कैसे हो सकता है?

समाधान—कोष के बिना भी व्याकरण तथा आप्त-वाक्य आदि से शक्ति ग्रहण न्यायशास्त्र में प्रसिद्ध है। सिद्धान्तमुक्तावली (कारि-कावली) के पृ० ८३ में कहा है—

व्याकरण से, उपमान से, कोश से, आप्तवाक्य से, व्यवहार से, वाक्यशेष से, विवरण से, तथा सिद्ध पद के सम्बन्ध से शक्ति का ग्रहण होता है।

अत्राप्तवाक्यादेव कूष्माण्डे शक्तिग्रहो जायते । किमाप्तवाक्यमिति चेत्, वृत्तिकाराभिमतद्वितीयपक्षवाक्यमेवाप्तवाक्यम् । तथाहि—"अन्येत्वाहुः—कपोतकः—पक्षिविशेषस्तद्वद् ये फले वर्णसाधर्म्यात्ते कपोते—कूष्माण्डे ह्रस्वे कपोते कपोतके ते च ते शरीरे वनस्पतिजीवदेहत्वात् कपोतशरीरे, अथवा कपोतशरीरे इव धूसरवर्णसाधर्म्यादेव कपोतशरीरे कूष्माण्डफले एव ।" यद्येतावताऽपि न संतोषस्तर्हि कपोतशरीरवर्णसाधर्म्यादस्तु कूष्माण्फले तस्य लक्षणा । लक्षणाया अपि शब्दवृत्तित्वात् तयाप्यर्थप्रतीतिसंभवात् । कूष्माण्डस्य गुणा वैद्यकशास्त्रे प्रसिद्धास्तथाहि—सुश्रुतसंहितायाम् २३५ पृष्ठे—

"पित्तघ्नं तेषु कूष्माण्डं, बालमध्यं कफावहं ।
पक्वं लघूष्णं सक्षारं दीपनं बस्तिशोधनम् ॥"

कैयदेवनिघण्टौ ११४ पृष्ठे—

"कूष्माण्डं शीतलं वृष्यं, स्वादुपाकरसं गुरु ।
हृद्यं रूक्षं सरं स्यान्दि, श्लेष्मलं वातपित्तजित् ।
कूष्माण्डशाकं गुरुसान्निपातज्वरामशोफानिलदाहहारि ॥"

कूष्माण्डशाकस्यापि ज्वरदाहहारित्वादत्र कूष्माण्डयुगलस्य रेवत्या शाकं व्यञ्जनं कृतमित्यर्थः फलति ॥ ४० ॥

यहाँ पर आप्त वाक्य से कूष्माण्ड में शक्ति ग्रह होता है। आप्त-वाक्य कौनसा है? इस प्रश्न का समाधान यह है कि टीकाकार ने द्वितीय पक्ष को बताने वाला जो वाक्य टीका में दिया है, वही आप्तवाक्य है। कहा भी है—"अन्ये त्वाहुः—कपोतकः—पक्षिविशेषस्तद्वद् ये फले वर्ण-साधर्म्यात्ते कपोते—कूष्माण्डे ह्रस्वे कपोते कपोतके ते च ते शरीरे वनस्पति-जीवदेहत्वात् कपोतशरीरे, अथवा कपोतशरीरे इव धूसरवर्णसाधर्म्यादेव कपोतशरीरे—कूष्माण्डफले एव।"

यदि इतने से भी संतोष न हो तो कपोतशरीर (कबूतर के शरीर) के रंग की समानता के कारण कूष्माण्ड फल में उसकी लक्षणा करनी चाहिए। लक्षणा भी शब्द की एक वृत्ति है और उससे भी अर्थ की प्रतीति होती है। कूष्माण्ड के गुण वैद्यक शास्त्र में प्रसिद्ध हैं। कहा भी है—

उनमें बाल और मध्यम कूष्माण्ड पित्त नाशक, कफ बढ़ाने वाला होता है। पका हुआ कूष्माण्ड लघु, उष्ण है, क्षार सहित दीपन और बस्ति को शुद्ध करता है।

—सुश्रुत संहिता पृ० ३३५

कूष्माण्ड शीतल, पौष्टिक, स्वादिष्ट, पाकरस, भारी, रुचिकारक, रूक्ष, दस्तावर, कम्प उत्पन्न करने वाला, कफ वर्धक और वातपित्त का नाशक है। कूष्माण्ड का शाक भारी है, सन्निपात ज्वर, आम, सूजन तथा अग्निदाह को मिटाने वाला है।

—कैयदेवनिघण्टु पृ० ११४

इससे यह अर्थ फलित होता है कि कूष्माण्ड का शाक ज्वर और दाह को शान्त करता है अतएव दो कूष्माण्डों का शाक व्यञ्जन रेवती ने बनाया था॥ ४०॥

मञ्जारशब्दार्थः—

प्रज्ञापनापदे चाद्ये, भगवत्येकविंशतौ ।
शतके वर्त्तते शब्दो, मज्जारेति वनस्पतौ ॥ ४१ ॥
अपरे त्वाहुरित्येतन्, मुखेनोक्ता विरालिका ।
वृत्तिकारेण सैवात्र, मज्जाराख्यवनस्पतिः ॥ ४२ ॥

प्रज्ञापनापदे इति—आद्ये—प्रथमे प्रज्ञापनापदे—प्रज्ञापनाभिधोपाङ्गसूत्रस्य प्रकरणे च—पुनः । भगवत्येकविंशतौ—भगवतीनामकपञ्चमाङ्गसूत्रस्यैकविंशतितमे शतके मज्जारेति—मज्जारेत्याकारकः शब्दो वनस्पतौ—वनस्पत्यर्थे वर्तते—विद्यते । तथाहि—"अब्भसहवोयाणहरितगतंडुलेज्जगतणवत्थुलचोरगमज्जारपोइचिल्लिया···"इत्यादि (भग० आगमो० ८०२ पत्रे) तथैव प्रज्ञापना (पन्नवणा) सूत्रे प्रथमपदे वृक्षाधिकारे "वत्थुलपोरगमज्जारपोइवल्लीयपालक्का·····" (पद० १)

अत्र वृत्तिकारेण स्वमुखेन मज्जारशब्दार्थो नोक्तः। किन्तु द्वितीयपक्षान्तर्गतस्य 'अन्येत्वाहुः—अपरे त्वाहु' रित्येतदवान्तरपक्षद्वयस्य मुखेन मज्जारशब्दस्य व्याख्या कृता । 'तथाहि—"अन्येत्वाहुः—मार्जारो—वायुविशेषस्तदुपशमनाय कृतं—संस्कृतं मार्जारकृतम्, अपरे त्वाहुः—मार्जारो—विरालिकाभिधानो वनस्पतिविशेषस्तेन कृतं—भावितं यत्तत्तथा ।" तत्र प्रथमावान्तरपक्षो मज्जारशब्दस्य वायुविशेषवाचकत्वं व्याख्याति द्वितीयस्तु विरालिकाभिधो वनस्पतिविशेषो मज्जारशब्दार्थ इति कथयति । अत्र या विरालिका वृत्तिकारेण तन्मुखेनोक्ता सैव विरालिका—विडालिका अत्र

मज्जार शब्द का अर्थ—

प्रज्ञापना सूत्र के प्रथम पद में तथा भगवती सूत्र के इक्कीसवें शतक में, मज्जार शब्द वनस्पति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ॥ ४१ ॥

कोई-कोई यह कहते हैं कि टीकाकारने अपर-मुख से जो विरालिका कही है वही मज्जार नामक वनस्पति है ॥ ४२ ॥

प्रज्ञापना नामक उपाङ्ग सूत्र के प्रथम पद में तथा भगवती नामक पाँचवें अंग सूत्र में के इक्कीसवें शतक में 'मज्जार' शब्द वनस्पति अर्थ में विद्यमान है। आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित भगवती सूत्र के पृष्ठ ८०२ में इस प्रकार पाठ है—"अब्भसहवोयाणहरितगतंदुलेज्जगतणवत्थुलचोरगमज्जारपोइचिल्लिया" इत्यादि। प्रज्ञापना के प्रथम पद में वृक्ष के प्रकरण में "वत्थुलपोरगमज्जारपोइवल्लीयपालक्का" ऐसा पाठ है।

यहाँ टीकाकार ने अपनी ओर से मार्जार शब्द का अर्थ नहीं लिखा है। बल्कि द्वितीय पक्ष के अन्तर्गत 'दूसरे कहते हैं' 'अन्य लोग कहते हैं' इस ढंग से दो अवान्तर पक्षों के मुख से 'मज्जार' शब्द की व्याख्या की है। वह इस प्रकार है—

"दूसरे कहते हैं कि मार्जार अर्थात् एक प्रकार की वायु उसे शान्त करने के लिए जो किया गया-पकाया गया-हो, वह मार्जारकृत।' कोई कहते हैं कि मार्जार अर्थात् विरालिका नाम की एक वनस्पति, उसके द्वारा जो किया-बनाया-गया हो वह 'मार्जारकृत'। यहाँ दो अन्तर्गत पक्ष हैं। पहला पक्ष मार्जार शब्द को वायु-विशेष का वाचक मानता है और दूसरा पक्ष कहता है कि मार्जार का अर्थ विरालिका नामक वनस्पति है। यहाँ पर अन्य-मुख से टीकाकार ने जो विरालिका नामक वनस्पति बताई है वही (विडालिका) इस प्रकरण में मार्जार शब्द का वाच्य अर्थ है।

प्रसङ्गे मज्जारशब्दवाच्यत्वेनाभिमता वनस्पतिः तस्याः प्रकृतोपयोगित्वात्तथाहि–शब्दार्थचिन्तामणिचतुर्थभागे ३२२ पृष्ठे–"विढाली-स्त्री भूमिकूष्माण्डे।" वैद्यकशब्दसिन्धौ ८८९ पृष्ठे–विडालिका-स्त्री भूमिकूष्माण्डे।" कैयदेवनिघण्टौ ३९७ पृष्ठे—"४६७ विदारीद्वयम् (विदारी. क्षीरविदारी च)

Ipomea digitata A large perennial creeper Tuberous root demul cent Nutritive, aphrodisiac and lactagogue	(हिं) विदारीकन्द, बिलाई कंद. (व) भूंई कूमडा. (म०) भूई कोहला (गु) भोकोळु

विदारीक्षुविदारी स्यात्स्वादु कन्दा विदारिका।
कूष्माण्डकी कन्दवल्ली वृत्तकन्दा पलाशकः॥१३६७॥
गजवाजिप्रिया वृष्या वृत्तवल्ली विडालिका॥ इत्यादि
विदारी बृंहणी वृष्या सुस्निग्धा शीतला गुरुः।
मधुरा मूत्रला स्वर्या स्तन्यवर्णबलप्रदा॥१४०१॥
पित्तानिलास्रदाहघ्नी जीवनीया रसायनी॥"

इत्यादि॥ ४१॥ ४२॥

रक्तचित्रकक्षुपस्य मज्जारशब्दवाच्यत्वेऽपि प्रकृतानुपयोगित्वम्—

शब्दसिन्धौ क्षुपे प्रोक्तो, मार्जारो रक्तचित्रके।
नास्ति तस्योपयोगित्वं, प्रकृते प्रातिकूल्यतः॥४३॥

शब्दसिन्धौ इति–वैद्यकशब्दसिन्ध्वाख्यकोषे। मार्जारः–प्राकृतमज्जारशब्दस्य संस्कृतच्छायारूपमार्जारशब्दः। रक्तचित्रके–

वही इस प्रसंग में उपयोगी है। शब्दार्थचिन्तामणि, चतुर्थ भाग, पृष्ठ २३२ में कहा है—"विडाली (स्त्री)-भूमिकूष्माण्डे।" वैद्यक शब्द सिन्धु पृष्ठ ८८९ में लिखा है—"विडालिका—(स्त्रीलिंग) भूमिकूष्माण्डे।" कैयदेव निघण्टु पृष्ठ ३९७ में लिखा है—

४६७ विदारी द्वयम् (विदारी, क्षीरविदारी च)

Ihomea digitata	(हिन्दी) बिदारीकन्द, बिलाईकन्द
A large perennial creeper	(बंगला) भूंईकूमडा
Tuberous root demul cent	(मराठी) भूई कोहला
Nutritive, aphoodisiac & lactagogue	(गुजराती) भोकोलु

विदारी, इक्षुविदारी, स्वादुकन्दा, विदारिका, कष्मांडकी, कन्दवल्ली, वृंसकन्दा, पलाशक, गजवाजिप्रिया, वृष्या, वृत्त-वल्ली, विडालिका, इत्यादि विदारी के नाम हैं। १३९७।

विदारी, वृंहिणी, पौष्टिक, स्निग्ध, शीतल, गुरु, मधुर मूत्र पैदा करने वाली, स्वर को सुन्दर करने वाली, दूध, रूप, और बल को बढ़ाने वाली है। पित्त, वायु तथा दाह नाशक और जीवनी रसायन है। इत्यादि ४१-४२

रक्त चित्रक नामक छोटे पेड़ को मज्जार शब्द का वाच्य मानना प्रकरण में अनुपयोगी है—

वैद्यक शब्द सिन्धु नामक कोष में प्राकृत भाषा के मज्जार शब्द की संस्कृत छाया रूप मार्जार शब्द, रक्तचित्रक नामक छोटे वृत्त के अर्थ में कहा गया है।

रक्तचित्रकाभिधे क्षुपे —लघुवृत्ते प्रोक्तः—कथितः। तथाहि—
"मार्जारः-पुं, रक्तचित्रकक्षुपे. रा. नि. व. ६। पूतिसारिकायाम्।
वै. निघ.। बिडाले, अम.। खट्टाशे. हे. च. (कः) मयूरे त्रिका॥"
पृ. ७४७.

"रक्तचित्रक-पुं. (Plumbago rosea or coccinea syn. P. rosea) रक्तवर्णदण्डपत्रचित्रकक्षुपे। गुणाः—स्थौल्यकरः रुच्यः कुष्ठघ्नः रसनियामकः लौहवेधकः रसायनः चित्रकान्तराद्-गुणाढ्यश्च। रा. नि. व. ६।" पृ. ७८९.

प्रकृते—प्रकृतप्रसङ्गे रक्तातिसारपित्तज्वरदाहरोगप्रसङ्गे। तस्य-रक्तचित्रकक्षुपस्य। उपयोगित्वं-उपयोगः। नास्ति-न विद्यते। कुतो नेत्याह-प्रातिकूल्यतः रोगप्रकृतेः प्रतिलोमत्वा-द्रोगस्योष्णस्वभावत्वादस्याप्युष्णस्वभावत्वात्॥ ४३॥

कडएशब्दार्थः—

कडए इति शब्दस्तु, संस्कृतभावितार्थकः।
बह्वर्थत्वेन धातूनां, वृत्तिकारेण दर्शितः॥ ४४॥

कडए इति—कडए इत्यस्य कृतक इति छाया। कृत एव कृतकः। स्वार्थे क प्रत्ययः। टीकाकारेणैव कृतशब्दस्य संस्कृतं भावितमित्यर्थद्वयं निरुक्तम्। करणार्थक-कृधातोः संस्कारभावनार्थकत्वं कथं स्यादित्यत आह बह्वर्थत्वेनेति—धातू-नामनेकार्थत्वादिति व्याकरणशास्त्रे प्रसिद्धम्॥ ४४॥

कुक्कुडशब्दार्थः—

कुक्कुटः सुनिषण्णाख्ये, शाके शाल्मलिपादपे।
कुक्कुटी मातुलुङ्गेऽपि, मधुकुक्कुटिका तथा॥ ४५॥

वह इस प्रकार—

मार्जाः—पु० रक्त चित्रक क्षुपे ए० नि० व० ६। पूतिसारिकायाम्। वै० निघ। विडाले, अम०। खट्टाशे. हे. च. (कः) मयूरे त्रिका. पृ. ७४७

यहाँ रक्तातिसार, पित्त ज्वर और दाह रोग के प्रसंग में रक्तचित्रक वृक्ष उपयोगी नहीं है। क्योंकि यह रोग की प्रकृति से प्रतिकूल है, अर्थात् रोग का स्वभाव भी उष्ण है और इस वृक्ष का स्वभाव भी उष्ण है ॥ ४३ ॥

कडए शब्द का अर्थ—

धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं, अतएव टीकाकार ने 'कडए' शब्द के संस्कार किया हुआ और भावित किया हुआ, ऐसे दो अर्थ किये हैं ॥ ४४ ॥

'कडए' यह प्राकृत भाषा का शब्द है। इसका संस्कृत भाषा में "कृतक' रूप होता है। कृत ही कृतक। यहाँ सार्थक में 'क' प्रत्यय हुआ है। टीकाकार ने ही कृत शब्द के 'संस्कृत' तथा 'भावित' ये दो अर्थ किये हैं।

शंका—कृ धातु का अर्थ 'करना' है। ऐसी दशा में उससे संस्कार या भावना का अर्थ कैसे ले सकते हैं?

समाधान—प्रत्येक धातु के अनेक अर्थ होते हैं; यह बात व्याकरण शास्त्र में प्रसिद्ध है ॥ ४४ ॥

कुक्कुड शब्द का अर्थ—

कुक्कुट शब्द का अर्थ सुनिषण्ण नामक शाक-वनस्पति और सेमल का वृक्ष, होता है। कुक्कुटी तथा मधुकुक्कुटिका का अर्थ है मातुलिंग (बिजौरा)। टीकाकार के मत से बिजौरे

वृत्तिकाराशयात्तस्मिन्, कुक्कुटोऽपि प्रवर्त्तते ।
स्वस्तिकस्योपयोगेऽपि, माँसशब्दो निरर्थकः ॥ ४६ ॥
शाल्मलेः फलवत्त्वेऽपि, नात्र तस्योपयुक्तता ।
मातुलुङ्गं तु सार्थक्यं, सर्वथाऽतस्तदाश्रयः ॥ ४७ ॥

त्रिभिः कुलकम् ।

कुक्कुट इति—'कुक्कुडमंसए' इत्यत्रार्षकुक्कुडशब्दस्य संस्कृतच्छाया कुक्कुट इति भवति । कुक्कुटशब्दस्यानेकार्थकत्वेऽपि शाकवृत्त्याद्यर्थकत्वमत्रोपयुक्तमिति तदेव दर्शयति । कुक्कुट इति कुक्कुटेत्याकारकः शब्दः सुनिषण्णारव्ये स्वस्तिकाभिधे शाके व्यञ्जनोपयोगिवनस्पतिविशेषे शाल्मलिपादपे—शाल्मलिनामख्याते वृक्षे वर्तते इति शेषः । तथाहि–वैद्यकशब्दसिन्धौ २५९ पृष्ठे ।

"कुक्कुटः–(कः) । पुं. । सुनिषण्णशाके । भा. पू. १ भ. शाकव. । सुण सुणा रानमाठ इति कोङ्कणे । शाल्मलि वृक्षे ।"

कैयदेव निघण्टौ १४६ पृष्ठे—

"१६५ सुनिषण्णकः (शितिवार)

Marsilea Quadrifolia A four-leaved aquatic hot-herb Cool, diuretic and astrigent	(हिं) शिरीआरी, चौपातया (वं) शुपुनिशाक. (म) करड्ड (गु.) उटीगण, चतुष्पत्री हरितक. शीत, मूत्रल, ग्राही ।

सुनिषण्णः सूचीपत्रश्चतुष्पत्रो वितुन्नकः ।
श्रीवारकः सितिवारः स्वस्तिकः कुक्कुटः सितिः ॥

के अर्थ में कुक्कुट शब्द का भी प्रयोग होता है। स्वस्तिक (सुनिषण्ण) यहाँ उपयोगी होता है परन्तु मांस शब्द निरर्थक बनता है। सेमल के वृक्ष में यद्यपि फल होते हैं परन्तु वह इस प्रकरण में उपयोगी नहीं है। हाँ, मातुलिंग (बिजौरा) सब प्रकार प्रकरण में उपयोगी है अतः उसी अर्थ का आश्रय लेना चाहिए ॥ ४५-४६-४७ ॥

'कुक्कुडमंसए' इस पद में आर्ष कुक्कुड शब्द की संस्कृत छाया 'कुक्कुट' है। कुक्कुट के अनेक अर्थ होते हैं, लेकिन इस प्रकरण में शाक या वृक्ष अर्थ ही उपयोगी है, अतः उसीको दिखलाते हैं।

कुक्कुट शब्द सुनिषण्ण अर्थात् स्वस्तिक नामक व्यंजन उपयोगी शाक के अर्थ में है और उसका दूसरा अर्थ शाल्मलि (सेमल) का वृक्ष भी होता है।

वैद्यक शब्द सिन्धु (पृष्ट २५९) में लिखा है—

"कुक्कुटः (कः) पु०। सुनिषण्ण शाके। भा. पु. १ भ. शाकव. सुणसुणा रानूनाठ इति कोङ्कणे। शाल्मलि वृक्षे।"

कैयदेव निघण्टु पृष्ठ १४६ में लिखा है—

६५ सुनिषण्णकः (शितिवार)

Marsilea quabifolia. A four leaved aquatic hot-herb cool, diuretic and astrigent,	(हिं.) शिरीआरी, चौपातया (बं.) शुपुनिशाक, (म.) करडू (गु.) उटीगण, चतुष्पत्री, हरित्तक शीत, मूत्रल, ग्राही।

सुनिषण्णक, सूचीपत्र, चतुष्पत्र, वितुनक, श्रीवारक, शितिवार, स्वस्तिक, कुक्कुट, सिति, शूस्या, थायस, ये सुनि-

चांगेरिपत्रसदृशपात्रः शूल्या च वायसः ॥ ९३३ ॥"

शालिग्रामनिघण्टुभूषणे ८७८ पृष्ठे—

"सुनिषण्णकनामानि—

सितिवारः सितिवरः स्वस्तिकः सुनिषण्णकः ।

श्रीवारकः सूचीपत्रः पर्णाकः कुक्कुटः शिखी ॥

अस्य गुणः—

सुनिषण्णो लघुर्ग्राही वृष्योऽग्निकृत्त्रिदोषहा ।

मेधारुचिप्रदो दाहज्वरहारी रसायनः ॥"

वैद्यकशब्दसिन्धौ १९२ पृष्ठे—

"शाल्मलिः—पुं. स्त्री । Bombox malabarica. Syn. Selmalica malabarica. स्वनामख्यातमहातरौ । गुणाः

वृष्यो वल्यः स्वादुः शीतः कषायो लघुः स्निग्धः शुक्रश्लेष्मवर्धनश्च । तद्रसगुण एव ग्राही कषायश्च । तत्पुष्पफलमपि तत्समगुणमेव । रा. नि. व. ८ । तत्पुष्पं घृतसैन्धवसाधितं प्रदरघ्नं रसे पाके च मधुरं कषायं गुरु शीतलं ग्राही वातलश्च । भा. पू १ भ.।शाकव. । कृमिमेहघ्नं रुक्षमुष्णं पाके कटु लघु वातकफघ्नञ्च । सु. मू. ४६ अ ॥"

कुक्कुटीः—कुक्कुटीत्याकारकः स्त्रीलिङ्गवाची कुक्कुटशब्द । तथा—एवं मधुकुक्कुटिका—मधुकुक्कुटीत्याकारकः शब्दः । मातुलुङ्गे—मातुलुङ्गापरपर्यायबीजपूरकवृक्षे वर्तत इति शेषः । अपीत्यनेन सुनिषण्णादिग्रहणम् । मधुकुक्कुटिकेत्यत्र मध्विति विशेषणे दूरीकृते कुक्कुटिकेत्यवशिष्यते । कुक्कुटीशब्दस्यैव कप्रत्यये ह्रस्वे च कृते कुक्कुटिका संपद्यते । तथा च तयोः पर्यायत्वं संभ-

पण्ण के नाम हैं चंगेरी के पत्र समान इसके पत्र होते हैं।

शालिग्राम निघण्टु भूषण पृ० ८७८ में लिखा है—

"सुनिषण्णक के नाम"

शितिवार, शितिवर स्वस्तिक, सुनिषण्णक, श्रीवारक, सूचीपत्र, पर्णाक, कुक्कुट, शिखी ये सुनिषण्णक के नाम हैं।

सुनिषण्णक के गुण—

सुनिषण्णक लघु, ग्राही, पौष्टिक, अग्निवर्धक, त्रिदोषनाशक, मेधा और रुचि को बढाने वाला, दाह ज्वरनाशक, और रसायन है।

वैद्यक शब्द सिन्धु पृ० ९५२ में कहा है—

"शाल्मलिः—पु० स्त्री०। Bombax malabarica. syn. Semalica malabarica. स्वनामख्यातमहातरौ। गुणाः (गुण—) पौष्टिक, बलकारक, स्वादिष्ट, शीत, कसैला, हलका, स्निग्ध, वीर्य और कफ को बढ़ाने वाला है। ग्राही और कसैला इसके रस के ही गुण हैं। इसके फूल और फल के गुण इसी के समान हैं। घी और नमक में साधा हुआ इसका फूल प्रदर का नाश करता है, रस तथा पाक में मधुर, कषाय, गुरु, शीतल, ग्राही तथा वातकारक है। (भा. पू. १ भ. शाक व.) कृमि तथा प्रमेह का नाशक, रूखा, उष्ण, पाक में कटु, लघु, वात और कफ को हरने वाला है। (सु. सू ४६ अ.)

कुक्कुटी, कुक्कुट शब्द का स्त्रीलिंगवाची शब्द है और इसी प्रकार मधु कुक्कुटिका शब्द बीजपूरक (बिजौरा) वृक्ष का पर्यायवाची है। 'अपि' शब्द से सुनिषण्ण आदि का ग्रहण किया है। 'मधुकुक्कुटिका' शब्द में से 'मधु' विशेषण हटा दें तो 'कुक्कुटिका' शेष रहता है और कुक्कुटी शब्द से क प्रत्यय करने पर और ह्रस्व करने पर 'कुक्कुटिका'

चति। तेन मधुकुक्कुटिकावत्कुक्कुटीशब्दस्यापि मातुलुङ्गार्थकत्वं कोपसिद्धमेव। तथाहि-वैद्यकशब्दसिन्धौ—

"कुक्कुटी—पुं.। कुक्कुमपक्षिणि। तदण्डाकारकन्दे। सं'। स्त्री। Silk cotton tree. शाल्मलिवृक्षे। रा. नि., व. ८। भा. पू. ४ भ. मूत्राष्टकतैले। शिवत्रारके। वा. उ. ५ अ।उत्कटवृक्षे। उच्चटामूले। उच्चटाबहुलिङ्गी स्यात्सैवोक्ता कुक्कुटी क्वचित्।' रत्ना॥" (२५९) पृष्ठे)।

"मधुकुक्कुटिका-(टी)-स्त्री.। मातुलुङ्गवृक्षे, जम्बीरभेदे। महुर इति भाषा। गुणाः-'मधुकुक्कुटिका शीता, श्लेष्मलास्य-प्रसादनी। रुच्या स्वादुर्गुरुः स्निग्धा, वातपित्तविनाशिनी॥ राज. ३ प॥" (७०८ पृष्ठे)

"मातुलुङ्गः-(कः)। पुं.। (Citrus medica) बीजपूरवृक्षे। हि. बिजौरा। गुणाः—

'स्यान्मातुलुङ्गः कफवातहन्ता क्रमीणां जठरामयघ्नः।
स दूषितरक्तविकारपित्तसन्दीपनः शूलविकारहारी॥'

तत्फलगुणाः-श्वासकासारुचिहरं तृष्णाघ्नं कण्ठशोधनम्।
दीपनं लघुरुच्यञ्च मातुलुङ्गमुदाहृतम्॥"

(पृष्ठ ७४३)

सुश्रुतसंहितायां २२७ पृष्ठे—"बिजौरा—

श्वासकासारुचिहरं, तृष्णाघ्नं कण्ठशोधनं।
लघ्वम्लं दीपनं हृद्यं, मातुलुङ्गमुदाहृतम्॥

शब्द बन जाता है। अतएव वे पर्यायवाची हो सकते हैं। इस कारण जैसे मधुकुक्कुटिका शब्द का अर्थ बिजौरा है उसी प्रकार कुक्कुटी शब्द का अर्थ भी बिजौरा कोष से सिद्ध है।

वैद्यक शब्द सिन्धु में कहा है—

"कुक्कुटी—पु०। कक्कुभपक्षिणि। तदण्डाकारकन्दे। मं०। स्त्री। Silk cotton tree शाल्मलिवृक्षे। रा० नि० व० ८। भा० पू० ४ भ० मूत्राष्टकतैले। शितिवारके। वा० उ० ५ अ। उत्कटवृक्षे। उच्चटामूले। 'उच्चटा बहुलिङ्गी स्यात् सैवोक्ता कुक्कुटी क्वचित्'। रत्ना॥" (पृष्ठ २५९)

मधुकुक्कुटिका—(टी)—स्त्री। मातुलिंग वृक्षे, जम्बीरभेदे। महुर इति भाषा। गुणाः—मधुकुक्कुटिका शीता, श्लेष्मलास्य-प्रसादनी। रुच्या स्वादुर्गुरुः स्निग्धा, वातपित्तविनाशिनी॥ राज, २ प.॥" (पृष्ठ ७०८)

मातुलिङ्गः—(कः)। पु०। (citrus medica) छीलंग वृक्षे हि० बिजौरा। बिजौरे के गुण—

बिजौरा कफ और वात को नाश करने वाला, पेट के कीडों का नष्ट करने वाला, दूषित रक्त विकार मिटाने वाला है।

मातुलिंग फल के गुण इस प्रकार है—

श्वास खासी, तथा अरुचि को नष्ट करने वाला, तृष्णा का नाशक और कण्ठ को शुद्ध करने वाला दीपन, लघु एवं रुचिकारक है।

सुश्रत संहिता पृ० ३२७, "बिजौरा"—

मातुलिङ्ग श्वास, खांसी और अरुचि को हरने वाला, तृषा बुझाने वाला, कण्ठ शुद्ध करने वाला, लघु खट्टा, दीपन तथा रुचिकारक होता है।

त्वक्तिक्ता दुर्जरा तस्य, वातकृमिकफापहा ।
स्वादु शीतं गुरु स्निग्ध, मांसमारुतपित्तजित ॥

ननु कुक्कुटीशब्दस्य मातुलुङ्गार्थकत्वेऽपि कुक्कुटशब्दस्य तु तन्न सिद्धमिति चेदाहवृत्तिकाराशयादिति—कोषं विनाऽऽप्त-वाक्यदितोऽपि शक्तिग्रहो भवतीति। दर्शितमेव कुक्कुडशब्देन मातुलुङ्गापरनामबीजपूरकार्थबोध एव वृत्तिकारस्याशयः। तद्यथा 'कुक्कुटमांसकं' बीजपूरकम्। (भग० आगमो० समिति ६९१ पृष्ठे)

तथा च तदभिप्रायेण कुक्कुटोऽपि कुक्कुटशब्दोऽपि तस्मिन् मातुलुङ्गार्थे प्रवर्तते शक्त्यैव बोधजनको भवतीत्यर्थः। एवं च 'कुक्कुड' शब्देन त्रिपु वनस्पत्यर्थेपूपस्थितेष्वपि विशेपेणात्र कस्योपयोग इति दर्शयति। स्वस्तिकस्येति—सुनिपएणकापरपर्याय-शितिवारशाकस्य दाहज्वरहारित्वेनात्रप्रसंगे। उपयोगेऽपि—उपयुक्तत्वेऽपि मांसशब्दो निरर्थकोऽर्थ शून्यत्वेनानुपपन्नः स्यादिति शेपः फलगर्भस्यैवात्र मांसत्वेन स्वस्तिकस्य तादृशफलवत्त्वाभावात्। शाल्मलेः—स्वनामख्यातमहातरोः फलवत्त्वेऽपि मांसविशिष्टफल-सद्भावेऽपि। अत्र-अस्मिन्प्रकरणे तस्य—शाल्मलिफलस्य नोपयुक्तता—नोपयोगो भवति पित्तदाहाद्यनिवारकत्वात्॥ मातुलुङ्गे तु—बीजपूरकफले मांसात्मक-गर्भसद्भावात्तस्य च पित्तादिदोषनिवारकत्वेन दर्शितत्वात्। सर्वथा—सर्व प्रकारेण सार्थक्यं साफल्यम्। पूर्वोक्तप्रकाराभ्यामस्य विशेपतोपदर्शनार्थं

इसकी छाल तिक्त और कठिनता से पचने वाली होती है। वह वात, कृमि और कफ को नष्ट करती है। उसका गूदा स्वादु, शीतल, गुरु, स्निग्ध, वायु और पित्त को जीतने वाला है।

शंका—कुक्कुटी शब्द का अर्थ बिजौरा हुआ, लेकिन यह सिद्ध नहीं हुआ कि कुक्कुट शब्द का अर्थ भी बिजौरा है।

समाधान—कोष के बिना भी आप्त-वाक्य आदि से शब्दार्थ का बोध होता है। यह पहले ही दिखाया जा चुका है कि कुक्कुट शब्द से टीकाकार का आशय बिजौरे से ही है, जिसका दूसरा नाम मातुलुङ्ग भी है। वह इस प्रकार कुक्कुट मांसक—बीजपूरकम् (भग० आगयो० समिति ६९१ पृष्ठ)

इस प्रकार टीकाकार के मत के अनुसार कुक्कुट शब्द भी बीजपूर का वाचक है। यहाँ कुक्कुट शब्द से तीन वनस्पतियों का अर्थ होता है, उनमें से इस प्रकरण में विशेष रूप से जिसकी उपयोगीता है, वह बताते हैं। सुनिपण्णा नामक शितिवार शाक दाह-ज्वर का नाशक होता है इसलिए वह इस प्रसंग में उपयोगी है, तथापि यदि यह अर्थ लिया जाय तो मांस शब्द व्यर्थ हो जाता है। क्योंकि फल के गूदे को यहाँ मांस शब्द से कहा है मगर शितिवार के फल वैसे (गूदेदार) नहीं होते दूसरा अर्थ शाल्मलि (सेमल) है। सेमल के फल में गूदा भी होता है मगर वह इस प्रकरण में उपयोगी नहीं है क्योंकि वह पित्त-दाह आदि का नाशक नहीं होता। अब रह गया बिजौरा, सो उसके फलों में गूदा भी होता है। और वह पित्त आदि रोगों का निवारण भी करता है, इस कारण वही सब प्रकार से उपयुक्त है। यही कारण है कि प्रकरण के

तु शब्दः । अतः—अस्मात्कारणात् तदाश्रयः—मातुलुङ्गरूप-तृतीयार्थस्यैवाश्रयः कृतो द्वावर्थौ विहाय तृतीयोऽर्थः समादृतः प्रकरणानुरोधेनेतिभावः ॥ ४५ । ४६ । ४७ ॥

मांसशब्दार्थो निरूप्यते—

मांसशब्दस्य शक्तिस्तु, पिण्डीभूते रसे मता ।
फलगर्भोऽपि तद्रूपो, दृश्यते प्राणिमांसवत् ॥ ४८ ॥
त्वङ्मांसकेसराणां च, लक्षणानि पृथक् पृथक् ।
वाग्भटे वैद्यके ग्रन्थे, दर्शितानि गुणैः सह ॥ ४९ ॥

मांसशब्दस्येतिः—'कुक्कुडमंसए' इत्यत्र 'मंसए' इति शब्दस्य छाया मांसकमिति पुल्लिंगस्तु प्राकृतत्वात् । कप्रत्ययः स्वार्थिकः । मांसशब्दस्य पिण्डीभूते रसे रसपिण्डे रक्तज-तृतीयधातौ वा शक्तिः प्राणिशरीरे यथा रसपिण्डीभावो भवति तथा वृक्षफलादावपि रसपिण्डीभावो भवत्येवात आह तद्रूपः रसपिण्डरूपः । प्राणिमांसफलगर्भयोः क्वचिद्वर्णेनापि सादृश्यं दृश्यते । ततो मांसशब्देन फलगर्भोऽपि गृह्यते । तदुक्तं प्रज्ञापनायाम्—"वेटं मंसकडाहं एयाइं हवंति एगजीवस्स । वृन्तं समंसकटाहं ति । स मांसं सगिरं तथा कटाहं एतानि त्रीण्येकस्य जीवस्य भवन्ति एकजीवात्मकान्येतानि त्रीणि भवन्तीत्यर्थः । (पन्नवणा. बाबु. पद. १ पृ. ४०) ॥" एवं वाग्भटे (सू. स्था. अ. ६. श्लोक १२५—१३१)—

मातुलुङ्गस्य त्वङ्मांसकेसराणां पृथगुपयोगदर्शनात् पृथगेव गुणानाह—

त्वक्तिक्तकटुका स्निग्धा मातुलुंगस्य वातजित् ।
बृंहणं मधुरं मांसं वातपित्तहरं गुरु ।

अनुरोध से कुक्कुट शब्द के तीन वनस्पति-अर्थों में से पूर्वोक्त दो को छोड़ कर तीसरे बिजौरे अर्थ का आश्रय लिया है ॥ ४५-४६-४७ ॥

मांस शब्द का अर्थ—

रस का पिण्ड, मांस शब्द का अर्थ है। फल का गर्भ (गूदा गिरी) भी प्राणी के मांस की तरह उसी प्रकार का देखा जाता है ॥ ४८ ॥

वाग्भट नामक वैद्यक ग्रंथ में, त्वचा, मांस, और केसर के लक्षण, उनके गुणों के साथ, जुदे-जुदे बताये हैं।

'कुक्कुडमंसए' पद में 'मंसए' इस प्राकृत शब्द की संस्कृत छाया 'मांसकम्' होती है। स्वार्थ में 'क' प्रत्यय हुआ है। मांस का अर्थ है रस का पिण्ड अर्थात् रक्त से उत्पन्न होने वाली तीसरी धातु। जैसे प्राणी के शरीर में रस का पिण्ड होता है उसी प्रकार फल वगैरह में भी होता है, इसलिए मांस को रक्त-पिण्ड रूप कहा है। कहीं-कहीं प्राणी के मांस और फल के गूदे में रंग की भी समानता देखी जाती है, इसलिए मांस शब्द से फल का गूदा अर्थ भी लिया जाता है। प्रज्ञापन सूत्र में कहा भी है—"वेंटं मांसकडाहं इयाइं हवंति एगजीवस्य।" अर्थात् एक जीव के वृन्त, मांस सहित गूदा सहित, और कटाई, ये तीन होते हैं, अर्थात् ये तीनों एक जीव रूप हैं। (पन्नवणा यावृ. पद. १ पृ. ४०) इसी प्रकार वाग्भट्ट में (देखिये सू. स्था. अ. ६. श्लोक १२९-१३१) बिजौरे की त्वचा, मांस और केसर का पृथक्-पृथक् उपयोग देखा जाने से उनके गुण भी पृथक्-पृथक् कहे हैं—

मातुलिंग की छाल तिक्त, कडुवी, स्निग्ध, तथा वात-नाशक है। मातुलुंग का गूदा बृंहण, मधुर, वातपित्तनाशक एवं गुरु है। उसकी केशर लघु है, श्वास खांसी, से हुवा रोगों

लघु तत्केसरं कासश्वासहिध्ममदात्ययान् ॥
आस्यशोषानिल श्लेष्मविबन्धछर्दरोचकान् ।
गुल्मोदरार्शःशूलानि मन्दाग्नित्वं च नाशयेत् ॥"

इत्थं मांसशब्दस्य फलगर्भत्वे सिद्धेऽत्र मातुलुङ्ग-फलस्य गर्भ इति तदर्थः ॥ ४८ । ४९ ॥

प्रथमवाक्यस्य फलितार्थः—

रेवत्यौपस्कृतं मह्यं, कूष्माण्डफलयुग्मकम् ।
तन्नग्राह्यं सदोषत्वा-दित्याह प्रथमं जिनः ॥ ५० ॥

रेवत्येति—रेवतीगाथापत्न्या मह्यं—मदर्थं, कूष्माण्डफल-युग्मकम्—युग्ममेव युग्मकम्—कूष्माण्डाभिधफलयोर्युग्मकं युगलमित्यर्थः । तत्—कूष्माण्डयुगलव्यञ्जनं न ग्राह्यमित्यर्थः । कुतो नेत्याह—सदोषत्वात्—आधाकर्मादिदोषसहितत्वात् । जिनो-वर्तमानशासनपतिः श्रीमहावीरः प्रथमं—पूर्वं प्रथमवाक्येन सिंहा-नगारं प्रति इत्याह—इत्थममुना प्रकारेण जगादेत्यर्थः । तथाहि-"मम अट्ठ दुवे कवोयसरीरा उवक्खडिया तेहिं नो अट्ठो भग. १५, १, पृ. ६८६" इत्येतत्प्रथमवाक्यस्य समुदायार्थः ॥ ५० ॥

द्वितीयवाक्यस्य फलितार्थः—

गर्भो यो मातुलुङ्गस्य, भूमिकूष्माण्डसंस्कृतः ।
पर्युषितो गृहे तस्या, स्तमानयेत्यवक् ततः ॥ ५१ ॥

गर्भ इति—मातुलुङ्गस्य—बीजपूरकाभिधफलस्य । गर्भः—मांसं फलान्तर्गतकोमलविभागः । भूमिकूष्माण्डं—विरालिका-कन्दविशेषः । तेन संस्कृतः संस्कारं प्रापितः । पर्युषितो—

की नष्ट करने वाली हैं। तथा मुख के सूखने को, वात, कफ, कब्ज़, कब्ज़ी, वमन, अरुचि, गुल्म, बवासीर शूल और मंदाग्नि को नाश करने वाली हैं।

इस प्रकार मांस का अर्थ फल का गूदा सिद्ध है। अतएव यहाँ "कुक्कुड मंसए" का अर्थ बिजौरे के फल का गूदा है ॥ ४८-४९ ॥

प्रथम वाक्य का फलितार्थ...

पहले भगवान् महावीर ने यह कहा कि रेवती ने मेरे लिए दो फोल पकाये हैं वे ग्रहण करने योग्य नहीं है, क्योंकि वे सदोष हैं ॥ ५० ॥

गाथापत्नी रेवती ने मेरे लिए दो कूष्माण्ड फल पकाये हैं वे दोनों ग्रहण करने योग्य नहीं हैं। क्योंकि वे आधाकर्म आदि दोषों से दूषित हैं। वर्तमान शासन के स्वामी श्री महावीर ने, प्रथम वाक्य में सिंह अनगार से इस प्रकार कहा था। मूल पाठ इस प्रकार है—मम अट्ठे दुवे कवोयसरीरा उवक्खडिया तेहिं नो अट्ठो।" प्रथम वाक्य का यही समुदित अर्थ है ॥ ५० ॥

द्वितीय वाक्य का फलितार्थ—

विरालिका कन्द के द्वारा संस्कार किया हुआ, बिजौरे का जो गर्भ रेवती के घर कल पकाया गया है उसे ले आओ। उसके बाद ऐसा कहा ॥ ५१ ॥

रेवती के घर, बीजपूर नामक फल का गर्भ (फल का भीतरी कम कोमल भाग) जो विरालिका कन्द द्वारा संस्कार किया गया है और कल पकाया गया है, मौजूद है। उसे ले आओ। प्रथम वाक्य के पश्चात्

गतदिननिष्पादितः। तस्या रेवतीगृहिण्या गृहे विद्यत इति शेषः।
तं–बीजपूरकगर्भम्। आनय–त्वमिति शेषः ततः–प्रथमवाक्या-
न्तरं द्वितीयवाक्येन वीर जिनः सिंहं प्रति इत्यवक्–इत्थमवद-
दिति—"अत्थि से अन्ने पारियासिए मज्जारकडए कुक्कुड मंसए
तमाहराहि" भग० १५; १, पृ० ६८७ इत्येनद् द्वितीयवाक्य-
स्यायं समुदायार्थ इति॥ ५१॥

दोषनिराकरणमाह—

> अस्मिन्नर्थे न काप्यस्त्य–नुपपत्तिर्न दूषणम्।
>
> न चागमाविरोधोऽपि, सर्वं संगच्छते ततः॥ ५२॥

अस्मिन्निति—मांसार्थे 'दुवे सरीरकडए' इत्येतेषां त्रयाणां
शब्दानामन्वययोग्यतानुपपत्तिः नरकादिगतिप्राप्तिः स्वर्गाद्यप्राप्तिश्च
दूषणं मांसाहारनिषेधकानामागमवाक्यानां विरोधश्च। इत्येवं
ये ये दोषा मांसार्थे संभवन्ति तन्मध्यांद्वनस्पत्यर्थे नैकोपि दोषः
संभवति। ततस्तदर्थे सर्वं संगच्छते सर्वथापि संगतिरस्ति। न
मनागप्यसंगतिरनुपपत्तिर्वास्तीत भावः॥ ५२॥

उपसंहारः—

> मांसार्थपरिहारेण, वनस्पत्यर्थसाधनात्।
>
> रेवतीदत्तदानस्य, पूर्णशुद्धिर्विनिश्चिता॥ ५३॥

मांसार्थपरिहारेणेति—रेवतीदत्तदाने याथातथ्यं परीक्षितुं
प्रारब्धेऽस्मिन्निबन्धे पूर्वापरसम्बन्धपूर्वकं शब्दार्थपर्यालोचनायां
क्रियमाणायां मांसार्थनिराकरणेन वनस्पत्यर्थसाधनेन च रेवतीदत्त-
दानं नाशुद्धं किन्तु पूर्णशुद्धमिति सप्रमाणं निश्चितमिति॥ ५३॥

वीर भगवान् ने दूसरा यह वाक्य कहा था। मूल पाठ—"अत्थि से अन्ने पारियासिए मज्जार कडाए कुक्कुड मंसए तमाहराहि।" यह दूसरे वाक्य का समुदित अर्थ है ॥ ५१ ॥

इस अर्थ की निर्दोषता—

इस अर्थ में न कोई अनुचितता है, न दोष है और न कोई आगम-विरोध ही है। अतः यह अर्थ संगत है ॥ ५२ ॥

मांस अर्थ करने से 'दुवेसरीरकडए' इन तीन शब्दों का परस्पर संबंध का न बनना, नरक आदि गति की प्राप्ति, स्वर्ग आदि सुगति की अप्राप्ति तथा मांसाहार का निषेध करने वाले आगम-वाक्यों से विरोध, आदि जो जो अनेक दोष आते हैं, उनमें से एक भी दोष वनस्पति-अर्थ करने से नहीं रहता। अतः वनस्पति अर्थ ही सर्वथा संगत है। इसमें ज़रा भी असंगति या अनुपपत्ति नहीं है ॥ ५२ ॥

मांसार्थ का परित्याग करके, वनस्पति अर्थ की सिद्धि होने में रेवती द्वारा दिये हुए दान की पूर्ण शुद्धता निश्चित होती है ॥ ५३ ॥

रेवती के द्वारा दिये हुए दान की परीक्षा करने के लिए प्रारंभ किये हुए इस निबंध में, अगला-पिछला संबंध देखते हुए शब्दार्थ का विचार करने से, मांसार्थ का निराकरण करके वनस्पति-अर्थ की सिद्धि होने से यह सप्रमाण निश्चित है कि रेवती के द्वारा दिया हुआ दान अशुद्ध नहीं बल्कि पूर्ण शुद्ध था ॥ ५३ ॥

कथं निश्चितमित्याह—

आगमोद्धारसंस्थायाः, मिलितानां सभासदाम् ।
परस्परमविर्शेण, जातोऽयमर्थनिश्चयः ॥ ५४ ॥

आगमोद्धारसंस्थाया इति—श्री अजमेराख्यपत्तने साधु-सम्मेलनप्रसङ्गे शास्त्रपर्यालोचनकृते स्थापिता याऽऽगमोद्धारसमिति-स्तस्याः सभासदः प्रतिनिधियो गण्युपाध्याययुवाचार्यपूज्यअमोलख-ऋषिप्रभृतयः । ये संप्रति जयपुरपत्तने विराजन्ते शास्त्रपर्यालोच-नार्थं मिलितानां तेषां परस्परविमर्शेण—परस्परं विहितशास्त्रपर्या-लोचनेन अयं—प्रकृतनिबन्धगतार्थनिर्णयः कृतः साधित इत्यर्थः ॥ ५४ ॥ प्रशस्तिः

खनिध्यंकधरावर्षे, माघशुक्लाष्टमीतिथौ ।
भौमे भारतविख्याते, जयपुराख्यपत्तने ॥ ५५ ॥
पूज्यगुलाबचन्द्राङ्घ्र्यम्बुजपरागसेविना ।
रत्नेन्दुना निबन्धोऽयं, निर्मितो मुक्तयेऽस्तु नः ॥ ५६ ॥

खनिध्यंकधरावर्षे इति—खं शून्यं निधिर्नव अङ्को नव धरा चैका । अङ्कानां वामतो गतिरिति १९९० मिते वर्षे—विक्रमाब्दे माघमासशुक्लपक्षस्याष्टमीतिथौ भौमे मंगलवासरे भारतवर्ष-प्रसिद्धे जयपुराख्ये पत्तने लिम्बडीसम्प्रदायस्याचार्यवरस्य पूज्यश्री-गुलाबचन्द्रजित्स्वामिनश्चरणकमलरजःसेवकेन रत्नचन्द्रमुनिना विरचितोऽयं निबन्धो नोऽस्माकं सर्वेषां च मुक्तये कल्याणायास्तु भवत्विति लेखकभावना ॥ ५५—५६ ॥

नभोऽङ्कनिधिभूवर्षे, माघकृष्णादलेशनौ ।
पञ्चम्यां मृजुटीकेयं, स्वोपज्ञं पूर्णतां गता ॥ १ ॥

किस प्रकार निश्चित हुवा, सो कहते हैं—

आगमोद्धार समिति के एकत्रित हुए सभासदों के परस्पर विचार से यह अर्थ निश्चित हुआ है ॥ ५४ ॥

अजमेर नगर में साधुसम्मेलन के अवसर पर शास्त्रों की पर्यालोचना करने के लिए आगमोद्धार समिति स्थापित हुई थी। उसके सभासद श्री उदयचंदजी गणी, श्री आत्मारामजी उपाध्याय, श्री काशीरामजी युवाचार्य, पूज्य श्री अमोलक ऋषिजी, आदि जो कि इस समय जयपुर नगर में विराजमान हैं, परस्पर मिले और उन्होंने शास्त्र की पर्यालोचना द्वारा यह निर्णय किया है ॥ ५४ ॥

० ९ ९ १

विक्रम् सम्बत् ख निधि अंक धरा * (१९९०) की माघ मास के शुक्ल पक्ष की अष्टमी, मंगलवार के दिन, भारतवर्ष के प्रसिद्ध जयपुर नगर में, सेवक रत्नचन्द्र मुनि ने यह निबंध रचा। यह निबंध हमें और समस्त प्राणियों को कल्याणकारी हो, यह लेखक की भावना है ॥ ५५ ५६ ॥

टीकाकार की प्रशस्ति

संवत १९९० में के माघ कृष्ण पंचमी के दिन यह स्वोपज्ञ सरल टीका पूर्ण हुई ॥ १ ॥

---

* अंकों की वाम गति होती है, अतः ० ९ ९ १ को उलटने से १९९० हो जाता है।

रेवतीदान समालोचना

की

प्रत्यालोचना

(ले०—शतावधानी पंडित मुनिश्री रत्नचन्द्रजी महाराज)

[जैन प्रकाश के उत्थान महावीरांक में शतावधानी पं०. मुनिश्री रत्नचन्द्जी म. ने रेवतीदान समालोचना नामक निबंध संस्कृत में प्रकाशित कराया था। उसकी आलोचना पं. अजितकुमारजी ने जैन मित्र में की थी। जिसका यह उत्तर है। अच्छा होता कि यह उत्तर जैनमित्र में ही छपता जिससे जैनमित्र के पाठक दोनों तरफ की बातों को समझ सकते। परन्तु खेद है कि, यह लेख जैनमित्र के पास भेजा भी गया, लेकिन जैनमित्र ने इसके छापने की उदारता नहीं दिखलाई। जैनमित्र को अपनी इस जिम्मेदारीका ख्याल अवश्य रखना था। खैर! इससे तो मुनिश्री के लेखका महत्वही बढता है। यह लेख और पत्रों में भी प्रकाशित हुआ है परन्तु इसका मूल लेख जैन प्रकाश में ही छपा था इस लिये यह लेख भी यहां दिया जाता है। सं.]

दिगम्बर सम्प्रदाय की ओर से प्रकाशित होने वाले "जैन मित्र" नाम के साप्ताहिक पत्र में ता० १ अगस्त वर्ष १६ के अंक ४१ में दिगम्बर सम्प्रदाय के पण्डित श्री अजितकुमारजी शास्त्री ने "रेवतीदान समालोचना" नामक संस्कृत के निवन्ध की समालोचना करते हुये प्रकृत निबंध के उद्देश्य की मर्यादा को उल्लंघन

कर श्वेताम्बर दिगम्बर की साम्प्रदायिक चर्चा में उतर गये हैं। प्रकृत निबंध का उद्देश्य तो केवल यह है कि रेवती गाथापत्नीने सिंह अणगार को दान दिया है; वह शुद्ध है, किंवा अशुद्ध ? कपोत, मार्जार, कुक्कुट, मांस आदि शब्दों का यहां पर वास्तविक अर्थ पक्षी है या वनस्पति ? महावीर स्वामी ने मांसाहार किया या नहीं ? इत्यादि आक्षेप अनेकों की ओर से हो रहे हैं। उनका समाधान करने के लिये ही उक्त निबंध की योजना की गई है। इसी लिये इस निबंध का नाम "रेवतीदान समालोचना" रक्खा गया है, न कि गोशालक कथा समालोचना।

पंडितजी ने उपर्युक्त ध्येय के ऊपर यदि लक्ष दिया होता तो श्वेतांबर दिगम्बर की अप्रासंगिक (साम्प्रदायिक) चर्चा में नहीं उतरते। क्योंकि ऐसी चर्चाओं का आज तक अन्त नहीं हुआ। ऐसी चर्चाओं में केवल समय के अपव्यय के अतिरिक्त कोई लाभ नहीं वल्कि उल्टा अन्दर ही अन्दर विक्षेप वढने के साथ साथ ईर्षा द्वेष की वृद्धि होती है। वर्तमान समय वैमनस्य बढाने का नहीं है, प्रत्युत परस्पर ऐक्य तथा प्रेम बढाने का है। दूसरी बात यह है कि, जिस सम्प्रदाय की समीक्षा या खंडन करना हो तो प्रथम उस सम्प्रदाय की परिभाषा से पूरी २ जानकारी होना अत्यावश्यक है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय की समीक्षा व खण्डन श्वेतांबर सम्प्रदाय की परिभाषासे ही हो सकता है, न कि दिगम्बर संप्रदाय की परिभाषा या अन्य दर्शन की परिभाषा से। इसी तरह से दिगंबर संप्रदाय की समीक्षा व खण्डन दिगंबर संप्रदायकी परिभाषा से ही हो सकता है, न कि श्वेतांबर सम्प्रदाय की परिभाषा या अन्य दर्शन की परिभाषा से। समीक्षा करनेवाले

वा दूसरे की भूल दर्शाने वाले को चाहिये कि, समीक्षा या समालोचना करते समय लेखक के अभिप्राय व उस सम्प्रदाय की परिभाषा से पूरी पूरी जानकारी प्राप्त करे तथा पक्षपात रहित न्याय दृष्टि रक्खे; तब उसमें से एक दूसरे के लिये जानने योग्य कुछ मिल सकता है। अन्यथा नहीं। यदि पंडितजी रेवतीदान समालोचना करने के पहिले श्वेताम्बर सम्प्रदाय के सूत्रों का पूरे तौर पर अवलोकन कर लेते तो जो आशंकाएं पंडितजी ने उठाई हैं, उनका अपने आप समाधान हो जाता। पंडितजी ने प्रकृत निबंध के विषय में जो अपनी सम्मति तथा उच्च अभिप्राय प्रकट करते हुये ध्येय की सफलता में ९ त्रुटियां लेखवद्ध की हैं। उनमें से एक से पांच नम्बर तक तो ऐसी त्रुटियाँ हैं जो इस निबंध से कोई सम्बन्ध न रखती हुई केवल पारस्परिक सांप्रदायिक विक्षेपवर्द्धन के लिये ही हो सकती हैं और जिन पर पूर्वाचार्यों के वहुत कुछ लिखने पर भी आज तक कोई फल नहीं हुआ। अर्थात् इन विवादास्पद विषयों पर पूर्वाचार्य वहुत कुछ लिख गये हैं तो भी अपने २ मन्तव्यों को छोड़ने के लिये कोई भी तय्यार नहीं! अतः इन सब का उत्तर (तय्यार होते हुये भी) लिखकर व्यर्थ समय का दुरुपयोग करना श्रेष्ठ प्रतीत नहीं होता। यदि पंडितजी आग्रह छोड़ सप्रमाण सिद्ध सत्य के स्वीकार करने में अपनी मनोवृत्ति प्रकट करते हुए आग्रह करेंगे तो हम उनका भी उत्तर देने के लिये प्रस्तुत होंगे। व्यर्थ दोनों सम्प्रदायों के बीच में वैमनस्य का वातावरण पैदा करना हमारा ध्येय नहीं है। इसलिये इस लेख में उन्हीं ६-७ और ८ वें प्रश्न जिनका संबंध "रेवतीदान समालोचना" नाम के निबन्ध से है उन्हीं का उत्तर क्रमशः दिया

जाता है। छठी आशंका में पंडितजी लिखते हैं कि "सबसे बड़ी आपत्ति इस विषय में यह है कि भगवान् महावीर स्वामी ने अपने योग्य भोजन लाने के लिये सिंह साधु को जिस रेवतीगाथा पत्नि के घर भेजा, वह मद्य पीने वाली तथा मांस भक्षण करनेवाली थी। उपासक दशांग सूत्र के आठवें अध्याय के २४०—२४२—२४४ वें सूत्र के अनुसार उसका मलिन आचरण इस योग्य सिद्ध नहीं होता कि उसके घर साधारण गृहस्थ-जैन—के खाने योग्य भी आहार मिल सके। उसने जब विष—शस्त्रों द्वारा अपनी १२ सौतों को मार दिया था तथा मद्य, मांस, मधु खान पान में लीन रहती थी। श्रेणिक राजा की वध निषेध की आज्ञा रहने पर भी वह अपने पिता के घर से बछड़े मरवाकर मँगा लिया करती थी। तब उसके घर कबूतर मुर्गे का मांस होना सरल संभव है। यदि वह मांस भक्षण न करती होती तब तो कपोत, कुक्कुट शब्द का अर्थ वनस्पति किसी प्रकार किया भी जाता। मांस लोलुपी के घर सीधे सरल मांस आदि शब्दों का अर्थ वनस्पति रूप करना ठीक नहीं।"

इसमें पंडितजी ने सिंह मुनि को दान देनेवाली रेवती को उपासक दशा में वर्णन की हुई रेवती मान ली है। यह पंडितजी की बड़ी भूल है। पंडितजी का कर्तव्य था कि दूसरों की त्रुटि को दिखाने के पहिले रेवती से संबंध रखने वाले दोनों पाठों को भली भाँति विचारते हुये पूर्वापर सम्बन्ध को अच्छी तरह से हृदयंगम कर लेते जिससे कि यह अज्ञानान्धकारावृत न रहता कि दोनों पाठों में आई हुई रेवती एक नहीं बल्कि पृथक २ हैं।

परंतु न मालूम पंडितजी ने विना देखे भाले किस प्रकार ये आशंकायें उपस्थित कर दी । अस्तु ।

वस्तु स्थिति इस प्रकार है कि उपासक दशा के आठवें अध्याय में जिस रेवती का वर्णन आया है वह, राजगृही की रहने वाली महाशतकजी की पत्नी है। उसका पाठ निम्नलिखित प्रकार से है—

"तत्थणं रायगिहे महासयए नामं गाहावई परिवसई । तस्स महासयस्स रेवई पामोक्खाओ तेरस भारियाओ होत्था ।" और श्री भगवती सूत्र में जिस रेवती का वर्णन आया है उसका पाठ इस प्रकार है:—

"गच्छहणं तुमं सीहा ! मेंढिय गाम नगरं रेयतीए गाहावतिणीए गिहे"

(१) उपासक दशा में वर्णिता रेवती राजगृही को रहने वाले महाशतकजी की स्त्री परतन्त्र है और (२) भगवतीजी सूत्र में वर्णन की हुई रेवती मेंढिक ग्रामनामा नगर की रहने वाली स्वतंत्र अर्थात् गृह स्वामिनी है । उपर्युक्त दोनों रेवती पृथक २ ग्रामों की रहने वाली होने के कारण पृथक २ ही हैं । उपासक दशा सूत्र में वर्णन की हुई "रेवती" मांसाहारिणी, क्रूर, हिंसक और अधर्मिणी है, जिसको पंडितजी भी स्वीकार करते हैं । परन्तु भगवती सूत्र में वर्णन की हुई रेवती श्री भगवान महावीर स्वामी के चरणों में भक्तिभाव रखने वाली और सिंह अणगार को दान देनेवाली धर्मज्ञ है । उपासक दशा सूत्र में जिस रेवती का वर्णन आया है वह मर कर नरक में गई है और सिंह अणगार को दान देनेवाली जिस रेवती का वर्णन भगवती सूत्र में आया है

वह यहाँ से काल करके स्वर्ग में जानेवाली बताई है। इन दोनों के सूत्र पाठ इस प्रकार से हैं।

"तएणं सा रेवइ गाहावइणी अंतोसत्तरत्तस्स अलसएणं वाहिणा अभिभूया अट्ट दुहट्ट वसट्टा कालमा से कालंकिच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए लोलूएच्चूए नरए चउरासीई वाससह ठिइएसु नेरइएसुनरइएत्ताए उववरणा" पहा०८:२७।

"तएणं तीए रेवतीए गाहावतिणीए तेणं दव्व सुद्धेणं जाव दाणेणं सीहे अणगारे पडिलाभिए समाणेदेवाउए निबध्धे जहा विजयस्स जाव जम्म जीवियफले रेवतीए गाहा वतिणीए।" भग १५–१०

इन दोनों पाठों से वाचक वर्ग तथा पण्डितजी अच्छी तरह से समझ गये होंगे कि, उपासक दशा सूत्र में वर्णन की हुई रेवती ने देवता का आयुष्य बांधा और अपना जन्म सफल किया। इससे यह भी आशा की जा सकती है, कि अब पण्डितजी को भी दोनों रेवतियों को पृथक २ समझने के कारण अपनी मोटी आपत्ति दूर करने में देर न लगेगी। आगे पण्डितजी लिखते हैं कि, यदि यह मांस भक्षण न करती होती तब तो कपोत, कुक्कुट शब्दों का अर्थ बनस्पति रूप किसी प्रकार किया जाता। इस लेख से यह तो भली भांति विदित होता है, कि इन शब्दों का वनस्पति अर्थ होना तो पण्डितजी को भी मान्य है। अब विचारणीय यह है कि, वहां वनस्पति अर्थ है या नहीं। इसका समाधान अधो लिखित है कि देवता का आयुष बांधने वाली भगवती सूत्र ने वर्णन की हुई रेवती मांसाहार करने वाली नहीं, यह तो दो और दो चार जैसी बात है। क्योंकि श्वेताम्बर सिद्धांतों में

मांसाहार से नरक का आयु बांधना माना है, भगवती सूत्र में वर्णन की हुई रेवती का देवायुष बांधना कथित है अतः उसके घर मांसाहार होना यह किसी प्रकार भी नहीं हो सकता।

सातवीं आशंका में पण्डितजी लिखते हैं कि परिवासित (बासी) शाक भोजन दूषित एवं अभक्ष बतलाया है इत्यादि—

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में बाईस अभक्ष्य कहे गये हैं। उन्हों में बासी शाक तथा अन्नादिको किसी ने भी अभक्ष्य नहीं माना, (देखिये दिगम्बरी पंडित दौलतरामजी कृत क्रियाकोष नाम की पुस्तक) इसमें बाईस अभक्ष्यों के नाम इस प्रकार गिनाए गए हैं।

१ ओला, २ घौल वड़ा, ३ निशि भोजन, ४ बहु बीजा, ५ बेंगण, ६ सँधाणा, ७ बड, ८ पीपल, ९ ऊमर, १० कठुमर, ११ पाकर जो फल होय, १२ अजाण ॥ १२ कन्दमूल, १४ माटी, १५ विष, १६ आमिष, १७ मधु, १८ माखन अरु, १९ मदिरा पान ॥ फल, २० तुच्छ, २१ तुषार, २२ चलितरस, ये जिनमत बाईस वखाण ॥

इन बाईस अभक्ष्यों में बासी शाक तथा अन्नादि का कहीं जिक्र नहीं है। यदि चलित रस शब्द से बासी अन्नादि ग्रहण कर लिया जाय तो यह ठीक नहीं। क्योंकि इसका अर्थ यह है कि, जिस वस्तु से वर्णगन्ध रस स्पर्श बदल गये हों यानी सड़ गया हो वह अभक्ष्य है। चाहे वह रात बासी हो या उसी दिन का बना हुआ क्यों न हो, यह रसविक्रिया ऋतु परत्वेन पृथक २ होती है। ग्रीष्म ऋतु में जो वस्तु एक रात्रि से बिगड जाती है वही शरद ऋतु में दो दिन तक नहीं बिगडती; और वर्षा ऋतु

में वही प्रातः काल से शाम तक विगडे विना नहीं रहती, इस लिये इसमें समय का नियम नहीं हो सकता। अभक्ष्यता में केवल यह देखना योग्य है कि रस चलित हुआ है या नहीं? यदि रस चलित हो गया है तो श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों आम्नायों में अभक्ष्य है। यदि रस चलित नहीं हुआ है तो अभक्ष्य नहीं। इस प्रमाण से अब यह भी प्रकट हो गया होगा कि दोनों आम्नाय केवल वासी अन्नादि को अभक्ष्य नहीं ठहराते, प्रत्युत चलित रस वाली वस्तु को अभक्ष्य ठहराते हैं। तो रेवती की वहराई हुई वासी वस्तु चलित रस न होने से आदेय है और उसी का सिंह मुनिने दान लिया है। इसमें किसी प्रकार का दोष नहीं होता। आठवीं आशंका में पण्डितजी लिखते हैं कि भगवती सूत्र एक गद्यमय है, उसमें पद्यों के समान अक्षर संख्यापूर्ण करने की कोई कठिनाई नहीं थी, जो ग्रन्थकार को कुष्माण्ड, वीजपूरक सरीखे सरल वनस्पति सूचक शब्द छोड़कर कुक्कुट, कपोत सरीखे पक्षी वाचक शब्द लिखने पड़े—

इसका उत्तर यह है कि, कितनेक शब्द ऐसे हैं जो कि देशाचार के अनुसार रूढि गत होते हुए भी कितने ही अर्थों के प्रतिपादक होते हैं। जैसे कि "सूआ" शब्द शुकपक्षी (तोता) के अर्थ में प्रयुक्त होता हुआ भी रूढि की तरह ही सूआ नामक शाक के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। सूआ शाक है जो पालक शाक के साथ प्रायः बनाया जाता है, उसको वेचनेवाले पुकारते हैं कि लो "सूआ पालक" उससमय ग्राहक शीघ्र ही यह समझ जाते हैं कि सूआ का साग वेचनेवाला पुकारता है। न कि सूआ

(शुक पक्षी) बेचनेवाला। देश काल की विशेषता से कोई २ शब्द अपने अर्थ की मर्यादा से बदल कर अन्यार्थ प्रतिपादक हो जाता है, अर्थात् यदि कोई शब्द किसी देश विशेष में किसी समय पक्षिविशेष वाचक प्रसिद्ध है तो वह ही शब्द किसी अन्य समय में या किसी अन्य देश में वनस्पति विशेष का वाचक होकर प्रसिद्धि पा लेता है। इसी प्रकार बहुत संभव है कि सूत्रकार के, समय में किसी देश में वनस्पति के अर्थ विशेष में अधिक प्रसिद्ध होने के कारण ही इन शब्दों का प्रयोग हुआ हो। और सूत्रकारों के लिये यह भी नियम है कि "सूत्रकारा नियोगपर्यनुयोगानर्हाः" अर्थात सूत्रकार से यह पूछने का किसी को अधिकार नहीं है कि, अमुक शब्द की योजना क्यों की और अमुक शब्द की क्यों न की। यह व्याकरण प्रसिद्ध नियम सब सूत्रकारों के साथ लागू है। इसलिए इस विषय में तर्क करना अति तर्क है यानि तर्क की मर्यादा से बाहिर है।

अपना कर्तव्य तो यह है कि जिस शब्द का प्रयोग किया है वह प्रमाण पूर्वक उचित अर्थ में घटता है या नहीं? इस बात पर विचार करना।

पंडितजीने यह भी प्रकट किया है कि भगवती सूत्र के इन शब्दों का सीधा सरल अर्थ बदलना ठीक नहीं, जब की वृत्तिकार श्री अभय देव सूरि भी एक पक्ष में उनका अर्थ पक्षी वाचक भी करते हैं—इसका उत्तर यह कि, वृत्तिकार श्री अभय देव सूरीने उक्त शब्दों का अर्थ पक्षी वाचक किया ही नहीं। यह उत्तर रेवतीदान समालोचना ३१ वां और ३२ वां श्लोक उनकी टीका से स्पष्ट

मालूम हो जायगा और वृत्ति के आशय समझने में भी किसी प्रकार की अडचन प्रतीत न होगी।

समालोचना के दूसरे पैराग्राफ में पंडितजी ने लिखा है कि "किन्तु उसके घर मार्जार के लिये जो वासी (रातभर रक्खा हुआ) कुक्कुट मांस है इत्यादि।"

इसमें मार्जार के लिए यह चतुर्थी विभक्तिका अर्थ पंडितजी ने कहां से लिया। रेवतीदान समालोचना में तो कहां भी मार्जार के लिए वासी रक्खा हुआ ऐसा अर्थ नहीं किया! इस प्रकार स्वयम् मनः कल्पित अर्थ लिखने की पंडितजी के लिए क्या आवश्यकता प्रतीत हुई? वास्तव में तो टीका में ही बताया गया है कि, यह शब्दार्थ मात्र है भावार्थ आगे स्पष्ट होगा। यदि पंडितजी को समालोचना ही करनी थी तो प्रथम निबन्ध में लिखा हुआ उक्त का निश्चित भावार्थ देखने के पश्चात् समालोचना करना चाहिये था। अपूर्ण समालोचना करके उक्त वाक्य का विपरीत अर्थ कर पाठकों को शंकाशील बनाने का प्रयत्न नहीं करना था। मार्जार और कडए इन शब्दों का अर्थ रेवतीदान समालोचना के ब्यालीसवें और तेतालीसवें श्लोक में स्पष्ट दिखला दिया गया है। पाठक वर्ग तथा पंडितजी उस अर्थ को वहां से देख ले और उसी के अनुसार चतुर्थी समास के स्थान पर यदि तृतीया तत्पुरुष अर्थानुसन्धान करे तो श्रेष्ट है।

('जैन प्रकाश' से उद्धृत)

श्री जैन गुरुकुल ब्यावर का निवेदन

यदि आप व्यवहारिक, धार्मिक एवं औद्योगिक शिक्षा के द्वारा अपने पुत्र को सशक्त, धर्म प्रेमी एवं स्वाश्रयी बनाना चाहते हैं तो—

अपने बच्चों को गुरुकुल में भेजिये

प्रवेश की योग्यता—हिन्दी ३ या गुजराती ४ किताब पढ़े हुए, ८ से ११ वर्ष की उम्र तक के, निरोग, बुद्धिमान बच्चे किसी प्रान्त या जाति के हों वे गुरुकुल में ७ वर्ष के लिए प्रविष्ट हो सकेंगे। मासिक रु० १०), ७), ५) यथाशक्ति भोजन खर्च देकर या फ्री भर्ती करा सकेंगे।

शिक्षण क्या २ मिलेगा ?

भाषा ज्ञान—हिंदी, गुजराती, इंग्लिश, संस्कृत, प्राकृतादि।
बौद्धिक कला—सम्पादन कला, वक्तृत्व, व्यापारिक शिक्षा, संगीतादि।
औद्योगिक—सिलाई, छापाखाना, बाइन्डिंग, होजियरी आदि।

आपका कर्त्तव्य

गुरुकुल को हर प्रकार सहायता देना, मकान बनवा देना, स्थायी कोष बढ़ाना, अमुक मितियों का खर्च देना, और अपने बच्चों को गुरुकुल में भेजना आपका कर्त्तव्य है। यदि आपकी सर्व प्रकार से सहानुभूति व सहायता होती रही तो थोड़े अर्से में ही जैन-गुरुकुल, ब्यावर जैन विद्यापीठ बन सकेगा।

पत्र-व्यवहार का पता:—
मंत्री, जैन-गुरुकुल, ब्यावर.

शिक्षाप्रद सुन्दर सस्ती और उपयोगी पुस्तकें।

१—जैन शिक्षा-भाग १ -)॥।
२—जैन शिक्षा-भाग २ =)॥
३—जैन शिक्षा-भाग ३ ≡)
४—जैन शिक्षा-भाग ४ (सचित्र) ≡)॥
५—जैन शिक्षा-भाग ५ ।-)
६—बालगीत)॥
७—आदर्श जैन ।)
८—आदर्श साधु ।)
९—विद्यार्थी व युवकों से =)
१०—विद्यार्थी की भावना -)
११—सुखी कैसे बनें ? -)
१२—धन का दुरुपयोग)॥
१३—रेशम व चर्बी के वस्त्र)॥
१४—पशुवध कैसे रुके ? =)॥
१५—आत्म-जागृति-भावना ।)
१६—समकित स्वरूप भावना -)॥
१७—मोक्ष की कुञ्जी १ भाग =)
१८—मोक्ष की कुञ्जी २ भाग =)॥
१९—आत्मबोध भाग १-२-३ ।-)
२०—आत्मबोध भाग २-३ ≡)
२१—काव्य विलास -)॥
२२—परमात्म प्रकाश =)
२३—भाव अनुपूर्वि -)
२४—मोक्ष नी कुंची बेभाग ।)
२५—सामायिकप्रति० प्रश्नोत्तर)॥
२६—तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् =)
२७—आत्मसिद्धि)॥
२८—आत्मसिद्धि और सम्यक्त्व)॥
२०—धर्मों में भिन्नता)॥
३०—जैनधर्म पर अन्य धर्मों का प्रभाव
३१—समकित के चिह्न १ भाग)॥
३२—समकित के चिह्न २ भाग)॥
३३—सम्यक्त्व के आठ अंग =)
३४—महावीर और कृष्ण =)

व्यवस्थापक:—

आत्म-जागृति-कार्यालय, ठि० जैन-गुरुकुल, ब्यावर.

नथमल लूणिया द्वारा
आदर्श प्रेस (केसरगंज डाकखाने के पास) अजमेर में छपी ।